

प्रवचन-सार



पूज्य पवाहारीजी

ॐ

श्रीगणेशाय नमः

प्राक्कथन

श्रीसिद्धपीठ हथियाराम-मठ के अधिपति श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयतिजी महाराज महामण्डलेश्वर चातुर्मास्यके हेतु प्रथम बार सन् १९६० मे मंडली सहित कलकत्ता गये। वहाँ अग्रसेन-स्मृति-भवनमें महाराजश्री ने निवास किया। श्रावण एवं भाद्रपद तक श्री पवाहारीजी का निरंतर व्याख्यान चलता रहा। प्रवचन में वेद, वेदांग, दर्शन, स्मृति, इतिहास तथा पुराणों का रहस्य बतलाया जाता था। परंतु प्रधानरूप में व्यास जी की "समाधि-भाषा" भागवत का दशम स्कंध चुना गया। श्रोताओं ने पूज्य महाराजजी के उपदेश को बड़े प्रेम से श्रवण किया और उन्हें वह उपदेश बहुत रुचिकर लगा।

परम श्रद्धेय श्री पवाहारीजी महाराज में केवल पाण्डित्य ही नहीं बल्कि तपका जो ओज है वह जन-मानसको अधिक आकर्षित करता है। श्रीसिद्धपीठ हथियाराममठ की परंपरा के अनुसार पूज्य पवाहारी जी महाराज वैदिकविधि से दैनिक तीन घण्टा प्रातः शिवार्चन करते हैं। महाराजश्री के दर्शन मात्र से बड़ी शान्ति मिलती है।

पूज्य पवाहारी जी की कथनशैली से कलकत्तावासी जनता बहुत प्रभावित हुई और वहाँ की श्रद्धालु जनताने पुनः कलकत्ता पधारने के लिए प्रार्थना की। भक्तों की प्रार्थना से महाराजश्री द्वितीय बार सन् १९६२ में चातुर्मास्य के हेतु मंडली के सहित पुनः कलकत्ता पधारे। इस बार भी पूज्य महाराजजी का निवास अग्रसेन-स्मृति-भवन में ही रहा। यह स्थान निवास के लिये बहुत ही उपयुक्त है। इस बार का भी सारा

प्रबंध कलकत्तावासी भक्तों ने ही किया परन्तु श्री सुगनचंदजी जोधाणी, श्री मोतीलाल जी सफ्फड, श्रीलादूरामजी केडिया एवं श्रीमती गिन्नी बाई, श्रीमती गोदावरीबाई, श्रीमती काशी बाई बागड़ी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। आप लोगों की निष्काम सेवा से श्री महाराजजी बहुत प्रसन्न हैं।

इस बार भक्तों की प्रार्थना से कठोपनिषद् का प्रवचन रखा गया। प्रवचन प्रतिदिन अपराह्न २ बजे से चार बजे तक श्रावण तथा भाद्रपद मास भर चलता रहा। श्री महाराजजी वेदान्त के गूढ तत्त्वों को सरल एवं सरस भाषा में समझाते थे। नवीन-नवीन दृष्टान्तों से उपदेश रोचक हो जाता था और लोग कहते थे कि समय तो जल्दी चला गया। कथा का समय और बढ़ा दिया जाय। वस्तुतः प्रवचन विद्वत्तापूर्ण एवं हृदयग्राही होता था। मैंने कथा के समय कुछ बातें भी नोट की परंतु वह कापी प्रमाद से कहीं खो गई इसके लिए मुझे बहुत ही खेद है। स्थानीय दैनिक लोकमान्य तथा सन्मार्ग में प्रायः प्रतिदिन प्रवचन का सारांश छपता था। 'लोकमान्य ने करीब २ डेढ़मास तक प्रवचन छाप दिया। दैनिक लोकमान्य के संपादकजी बहुत ही सौजन्यपूर्ण और मिलनसार व्यक्ति हैं। श्री महाराजजी के प्रवचनों का सारांश जो दैनिक लोकमान्य में छपता था उसे ब्रह्मचारी श्री सुरेन्द्रनाथ वेदान्ताचार्य ने संकलित किया। काशी लौटने पर जब दुबारा प्रवचन सार को पढ़ा गया तो, यह इच्छा हुई कि इसे पुस्तकाकार में प्रकाशित कर दिया जाय। श्रीसिद्धपीठ हथियाराम मठ के श्री ब्रह्मचारी सुरेन्द्रनाथ जी ने पुस्तक का प्रकाशन स्वीकार किया।

यह पुस्तक छोटी होने पर भी बहुत उत्तम है। इसमें कठोपनिषद् के माध्यम से वेदान्त के गूढ तत्त्वों को बडे ही सरल और सुगम ढंग से समझाया गया है। आत्म-तत्त्व को समझाने के लिये आधुनिक एवं वैज्ञानिक उदाहरण पर्याप्त मात्रा में दिये गये हैं। पदार्थों का प्रतिपादन शास्त्रीय होते हुए भी मौलिक है। पाठक इससे अध्यात्म के गूढ़ तत्त्वों को समझ कर अपने जीवन में लाभ उठा सकते हैं।

पुस्तक में पहले सन् १९६२ का प्रवचन सार छपा है और बाद में सन् १९६० का फुटकर प्रवचनसार एवं दो लेख छपे हैं। आशा है इस प्रवचन-सार से भक्तों के हृदय में आध्यात्मिक शान्ति एवं ज्ञान-गंगा प्रवाहित होगी।

॥ शिव ॥

गंगादशहरा
सम्वत् २०२०वि.
हथियाराम मठ
CK60/35 कर्णघंटा वाराणसी

स्वामी कृष्णानन्द पुरी

प्रवचन-सार

ता० २० जुलाई सन् १९६२ ई०, दैनिक लोकमान्य से

कलकत्ता १९ जुलाई। स्थानीय अग्रसेन स्मृति-भवन में, अपने दैनिक प्रवचन में, श्रीस्वामी बालकृष्ण यतिजी महाराज ने, भारतीय प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता की विशद व्याख्या की। आपने कठोपनिषद् की आख्यायिका में आये हुए "विश्वजित्"[1] नामक यज्ञ की चर्चा करते हुए कहा कि भारतीय संस्कृति हमको त्याग का उपदेश देती है। वह त्याग-प्रधान है, अन्य देश भोग-प्रधान हैं और थे। परन्तु भारत योगद्वारा आत्मदर्शन करता रहा है। 'त्याग करके भोग करो' यह शिक्षा भारतीय मनीषियों से ही प्राप्त होती है। विश्वजित् याग उसी त्याग का प्रतीक है। जिसमें सर्वस्व दान करना पड़ता है। प्राचीन वैदिक युग में ऐसे त्यागपूर्ण यज्ञ बहुत होते थे। इन मानव-हितकारी-यज्ञों का दर्शन जिस प्रकार हमें वेदों में होता है, उसी प्रकार ऐतिहासिक एवं पौराणिक तथा काव्यग्रन्थों में भी इनका बड़ा सरस वर्णन मिलता है। महाकवि कालिदास के रघुवंश नामक महाकाव्य में वर्णित रघु के विश्वजित् नामक यज्ञ का भी वर्णन स्वामीजी ने बड़ी सरस भाषा में किया[2]

---

१. विश्वजित् सर्वस्वदक्षिणः। श्रुतिः—

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्, रघुवंशः।

जिस यज्ञ में सर्वस्व दक्षिणा दी जाय, उसे विश्वजित् कहते हैं।

२. तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशम्,
निःशेषविश्राणितकोषजातम्।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी,
कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः।

रघुवंश के पञ्चमसर्ग में आया हुआ रघु-कौत्स संवाद।

और कहा कि इस त्याग-वैराग्य का मूलकारण ब्रह्मचर्य-पूर्वक गुरुकुल-वास है। [1]महर्षि उद्दालक की गुरुभक्ति का भी वर्णन आपने किया।

ता० २१ जुलाई सन् १९६२ ई०। श्रीस्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति महामण्डलेश्वरजी ने अपने प्रवचन में आज आगे कहा—संसार के अज्ञेय-तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान केवल वेद से ही हो सकता है। वेदों को हमारे महर्षियों ने[2] अपौरुषेय कहा है। अन्य प्रमाणों में व्यक्ति के प्रमाद आदि दोष संभव हैं परन्तु वेद सम्पूर्ण शङ्का-पङ्क से विनिर्मुक्त है। परलोक एवं आत्मा के स्वरूप में वेद निरपेक्ष प्रमाण है। अन्य अनुमानादि प्रमाण तो वेदानुकूल होने से ही आस्तिकों को मान्य हैं। अतः उपनिषत्प्रतिपादित आत्मस्वरूप, निर्दोष प्रमाण से सिद्ध होने के कारण वास्तविक रूप में ग्राह्य है। स्वामीजी ने कहा, नचिकेता पाँच वर्ष का

---

१. महाभारत के आदि पर्व में कथा है—धौम्य नाम के महर्षि के तीन प्रधान शिष्य थे, उनमें आरुणि नाम का शिष्य बड़ा गुरु-भक्त था। एक बार वर्षा के समय आरुणि को महर्षि ने खेत में क्यारी बाँधने को भेजा। जब बहुत परिश्रम करने पर भी वह बाँध नहीं सका, तब वह पानी निकलने के स्थान पर लेट गया। शाम के समय महर्षि ने आरुणि को नहीं देखा तो और शिष्यों से पूछा—'आरुणि कहाँ है? शिष्यों ने कहा, आपने आरुणि को क्यारी बाँधने भेजा था, तब से वह नहीं आया। गुरुजी शिष्य को ढूँढने स्वयं गये। ओ आरुणि! कहकर पुकारा। आरुणि उठ कर गुरु के समीप आया और आज्ञा माँगने लगा। गुरुजी ने कहा—तुम केदार को विदीर्ण करके आये हो इसलिये 'उद्दालक' नाम से प्रसिद्ध होवो। महा० आदिपर्व।

२. जिसमें पुरुष के बुद्धि का स्वातन्त्र्य न हो। सृष्टि के आरम्भ में पूर्वकल्पानुसार वेद का 'आनुपूर्वी' उच्चारण होता है। निर्माण नहीं।

बालक होते हुए भी माता-पिता के शुभ-संस्कारों के कारण ही संस्कारी एवं श्रद्धालु था। माता-पिता का प्रभाव बच्चों पर किसप्रकार पड़ता है इस विषय पर महाराजजी ने कई ऐतिहासिक उदाहरण[1] दिये।

ता० २२ जुलाई सन् १९६२ ई० के प्रवचन में श्री १००८ पवाहारी स्वामी बालकृष्ण यति महामण्डलेश्वरजी ने कहा—

यज्ञ के अन्त में ब्राह्मणों को दक्षिणा देते हुए देखकर नचिकेता अपने पिता उद्दालक से कहने लगा कि 'तत [2]कस्मै मां दास्यसीति' तात! मुझे किसको देंगे? उसने ऐसा दुबारा-तिबारा कहा। पिता ने झल्लाकर कहा, 'मृत्यवे' 'मर जा'। पिताजी के ऐसा कहने पर वह यमलोक भी जाने को तैयार हो गया। जो उत्तम कोटि के पुत्र या शिष्य होते हैं, वे नचिकेता के समान ही अपने पूज्य जनों की आज्ञा-पालन में सन्नद्ध हो जाते हैं और जीवन में अलभ्य वस्तु को सुलभ कर लेते हैं। भगवान् राम पिता की आज्ञा से वन में गये और पुत्र का यथार्थ आदर्श उपस्थित किये। पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर भीष्म ने अपरिहार्य काल को भी स्वाधीन कर लिया। पिता की आज्ञा का पालन करने से सबको दण्ड देने वाले यमराज भी नचिकेता के लिये अमरत्व प्रदान करने वाले बन गये। अतः सभी को अपने बड़ों का आशीर्वाद पाने के लिये उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिये।

ता० २३ जुलाई सन् १९६२ ई० के प्रवचन में श्री १००८ स्वामी

---

१. प्रह्लाद, अभिमन्यु, शिवाजी आदि का वृत्तान्त।

२. स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति।

द्वितीयं तृतीयं तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति॥

क० प्र० व० मं० ४।

पवाहारी बालकृष्णयतिजी महाराज ने कठोपनिषद् के [1]"बहूनामेमि प्रथमो...' मन्त्र की व्याख्या करते हुये कहा कि—नचिकेता ने सोचा, मैं अनेकों में अच्छा हूँ और बहुतों में मध्यम कोटि का हूँ। पुत्र, पत्नी, शिष्य और सेवक उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार के होते हैं। जो अपने पिता, पति, गुरु और स्वामी की आवश्यकताओं को समझ कर उनकी पूर्ति करते हैं, वे पुत्र, पत्नी, शिष्य और सेवक उत्तम हैं। जो कहने पर करते हैं, वे मध्यम हैं। जो कहने पर भी नहीं करते और जबाब-सवाल करते हैं वे अधम हैं। एक चौथी श्रेणी के भी पुत्र आदि होते हैं जो अपनी माता-पिता की सेवा तो नहीं करते; बल्कि धुन्धुकारी के समान कष्ट देते हैं। परन्तु हाँ, जैसे पिता के प्रति पुत्र के नियम हैं और पति के प्रति पत्नी के, उसी प्रकार कुछ आवश्यक नियम पिता या पति के लिये भी हैं। पति यदि पत्नी को गृहलक्ष्मी या देवी समझता है तो पत्नी भी पति को देव या भगवान् मानती है। इनमें मेल होने से ही समता रहती है और विषमता से तो विषमता ही बढ़ती है। आपने कहा कि हमारे शास्त्रों में पुत्र के कर्तव्य हैं तो पिता के भी।

ता. २४ जुलाई सन् १९६२ ई० के श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यतिजी महाराज महामण्डलेश्वर ने अपने दैनिक कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

महर्षि उद्दालक के मुँह से अपने पुत्र के लिये 'मर जा' यह अपशब्द निकल गया पर पीछे वे विचारने लगे—अच्छा, ऐसी बात कभी कभी हो जाया करती है। यह बात सत्य न हो, भला मेरा प्यारा पुत्र यमलोक जाय! उन्हें यह बात असह्य हो गयी। नचिकेता ने देखा, कि पिताजी अपनी

---

१. बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः,
किं स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति।
कठ, प्र० व० सं ५।

पड़े। श्रीस्वामीजी ने कहा, यह है भारतीय आतिथ्य सत्कार। सारी दुनिया यमराज से डरती है परन्तु यम भी अतिथि से डरते हैं। अतिथि का सत्कार न करने से सारे अभीष्ट विनष्ट हो जाते हैं। प्राचीन भारत में इसप्रकार अतिथि-सत्कार का भाव था। इससे बड़ा सामाजिक लाभ था। अतिथि जहाँ भी जाता था वहीं उसका समादर होता था। इस विषय पर स्वामी जी का उपदेश घंटा भर हुआ।

ता. २७ जुलाई सन् १९६२ ई०। अपने कठोपनिषद् के प्रवचन में श्री १००८ स्वामी पयाहारीजी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वर ने '[१]आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्' मंत्र की व्याख्या करते हुए बताया—जिस गृहस्थ के घर पर अतिथि विना सत्कार के पड़ा रहता है उसकी सारी आशाओं पर तुषारा-पात हो जाता है। सब सत्कर्मों के होते हुए भी एक अतिथि का तिरस्कार उन सत्कर्मों को निष्फल बना देता है। जैसे सुन्दर व्यंजन को विषका थोड़ासा अंश विकृत कर देता है, वैसे ही सारी कमाई को अतिथि का तिरस्कार समाप्त कर देता है। यम ने नचिकेता से क्षमा माँगी और कहा, आप मेरे घर में विना खाये-पिये तीन रात रहे हैं। उसके बदले में मुझसे तीन वर मांग लीजिये।

श्रीस्वामीजी ने कहा कि जो यमपुरी पापियों को क्लेश देने के लिये है, वही नचिकेता का स्वागत करने को तैयार है। यह सब पितृभक्ति का फल है। अतः पिता और गुरु की भक्ति करनेवालों के लिये यमपुरी भी शिवपुरी हो जाती है।

ता. २८ जुलाई सन् १९६२ ई० के कठोपनिषद् के प्रवचन में

---

१. आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्। एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे।

कठ० प्र० व० मं० ८।

श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति जी महाराज महामण्डलेश्वर ने कहा—यम से वर माँगने के लिये प्रेरित होने पर नचिकेता ने अपने पिता की प्रसन्नता का वर माँगा। श्रीस्वामीजी ने कहा कि जब तक मानव 'सुमना'[1] नहीं होता, तब तक महामना नहीं हो सकता। महामना के विना तन्मना नहीं हो सकता। महामना के अभाव में तन्मना होना कठिन है। लोग चाहते हैं हमारा मन प्रभु में लगे, परंतु मन सुन्दर हुए विना कैसे लग सकता है? चञ्चल मन से कोई निश्चय नहीं हो सकता। मन का मल-विक्षेप रहित होना आवश्यक है। मन की गंदगी तो वेदविहित, स्मृति-समर्थित, आचार्य तथा माता-पिता से अनुमोदित सत्कर्मों के करने से दूर होती है। सदाचरण के विना चित्त प्रसन्न नहीं होता है। विशुद्ध मन के अभाव में दुःख निवृत्ति असंभव है, अतः सभी सुमना बनने का प्रयत्न करें।

ता. २९ जुलाई सन् १९६२ ई० को कठोपनिषद् के प्रवचन में श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यतिजी महाराज महामण्डलेश्वर ने कहा, धर्मराज ने ऋषिपुत्र नचिकेता से दूसरा वर मांगने को कहा, तब नचिकेता ने बताया कि यदि मुझपर आपका अनुग्रह है तो आप मुझे उस अग्निविद्या का उपदेश करें जिससे भयरहित और मृत्युशून्य स्वर्ग की प्राप्ति होती है। श्रीस्वामीजी ने परलोक एवं देव-जगत् के विषय में शास्त्रीय प्रमाण दिये और कहा कि मानव कर्मयोनि है, वह सत्कर्मों के अनुष्ठान से देव बन सकता है। परन्तु आज का मानव तो मानव कहलाने लायक भी नहीं है। वह देव कैसें बनेगा? इस संसार में आनंद के अनेक रूप हैं तथापि मानव का लक्ष्य वास्तविक ब्रह्मसुख ही है। उसको प्राप्त किये विना परम शान्ति नहीं है। फिर भी यदि कोई ब्रह्मसुख तक नहीं पहुँच सकता है तो स्वर्ग के प्राप्ति का साधन सत्कर्मों का अनुष्ठान अवश्य करे।

---

१. "सुमना यथा स्यात्" क० प्र० व० मं० १०।

ता. ३० जुलाई सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् की कथा के प्रसंग में कहा—

जिस यज्ञविद्या की जिज्ञासा ऋषिपुत्र नचिकेता ने धर्मराज से की वह विद्या प्राचीन भारत में बहुत प्रचलित थी। भगवान् श्रीकृष्ण ने तो यहाँ तक बताया है कि जो यज्ञ नहीं करता वह न तो परलोक को सुखमय बना सकता है[1] और न इस लोक को। यज्ञ में यह भावना है कि मैं दूसरों के हित के लिये जीवित रहूँ। यज्ञ में निकृष्ट स्वार्थ का परित्याग और परमार्थ का संग्रह होता है। यज्ञयागादि में जिन सूर्य, चन्द्र, इन्द्र आदि देवताओं को प्रसन्न किया जाता है उनका संबंध हमारे जीवन से बहुत अधिक है। उनके अभाव में हमारा जीवन क्षणभर भी नहीं टिक सकता। अपने जीवन को बनाये रखने के लिये भी यज्ञों का सम्पादन आवश्यक है। यज्ञयागादि का कर्ता अन्त में अपने पुण्य के फलों को भोगने के लिये सूक्ष्म शरीर के साथ [2]सूर्य के किरणों द्वारा देवलोक में जाता है। इस विषय पर स्वामीजी ने अनेक युक्तियाँ दीं।

ता० ३१ जुलाई सन् १९६२ ई०। अपने कठोपनिषद् के प्रवचन में श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कहा—

---

१. यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥

गी० अ० ४ श्लो० ३१।

२. एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः।

प्र० मुण्ड० द्वि० खं० मं० ६।

बहुत से लोग दैव के ऊपर सारा भार छोड़ देते हैं और पुरुषार्थ नहीं करते। परन्तु उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि यह मानव-तन प्रकृति के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए मिला है। यह स्वभाव को बदलने में समर्थ है। पशु-पक्षी तो स्वभाव के वश रहते हैं, परन्तु मानव के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मानव अपनी आयु की भी वृद्धि कर सकता है और ऐश्वर्य को भी सुलभ कर सकता है। यदि हमने प्रमाद किया तो हमारा यह जीवन भी कष्ट में पड़ेगा। वास्तविक आनन्द हमसे दूर हो जायगा, इसलिये शास्त्रों में पुरुषार्थ की प्रशंसा की गई है। स्वर्गीय सुख एवं ब्रह्मानंद की अनुभूति भी पुरुषार्थ से ही संभव है। अतः हर मानव को अपने विकास के लिये कृतप्रयत्न हो जाना चाहिये।

ता० १ अगस्त सन् १९६२ ई०। नित्य की कठोपनिषद् की कथा में श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति महाराज महा-मण्डलेश्वरजी ने—

[1]'**तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा**' मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा, यम महात्मा हैं। उनकी दृष्टि सदा भगवत्तत्त्व में लगी रहती है। तभी वे उचित दण्ड-विधान करते हैं और ब्रह्म-विद्या का भी उपदेश करते हैं। महात्मा उसे कहते हैं जो सबको ईश्वर रूप देखता है। '[2]**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**'। गीता आदि शास्त्रों में

---

१. तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण।
कठ० प्र० व० मं० १६।

२. बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।
गी० अ० ७ श्लो० १९।

जहाँ कहीं भी महात्मा का लक्षण आया है उन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि निर्मलान्तःकरण सर्वभूतहितैषी भगवद्भक्त ही महात्मा है। यम भी इस परिभाषा में आते हैं। महात्मा यम ने ऋषिपुत्र नचिकेता की कुशाग्रबुद्धि से प्रसन्न होकर कहा कि एक अतिरिक्त वर मैं तुम्हें देता हूँ। यह अग्नि-विद्या तुम्हारे नाम से जगद्विख्यात हो। अन्त में स्वामीजी ने कहा कि माता-पिता और आचार्य की सम्मति से जो सत्कर्म किये जाते हैं वे ही सफल होते हैं।

ता० २ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

ऋषिपुत्र नचिकेता को धर्मराज ने जब तृतीय वर माँगने को कहा तब नचिकेता ने, आत्मा के विषय में (अस्ति और नास्ति विचारवालों ने जो संशय खड़ा कर दिया है, उसके निवृत्ति की) जिज्ञासा की। नचिकेताने कहा, हे यम! कुछ लोग तो कहते हैं, मरने के बाद देह से अतिरिक्त स्वर्ग और कर्मफल एवं मोक्ष को पानेवाला आत्मतत्त्व है और कुछ कहते हैं, शरीर से अलग कोई आत्मा नाम की चीज नहीं। शरीर के विनाश के बाद सभी वस्तुएँ समाप्त हो जाती हैं। न आत्मा है न स्वर्गादि लोक और न मोक्षादि की बात ही सत्य है। केवल आँखों से जो वस्तु दीखती है वही है। स्वामीजी ने प्राचीन एवं आधुनिक नास्तिकों द्वारा जो युक्तियाँ आत्मा के खण्डन में दी जाती हैं, पूर्वपक्ष रूप में उन्हें सुनाया और कहा कि इनका समाधान आपलोग कल सुनें।

ता० ३ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने अपने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

नास्तिक पक्षवालों की "आत्मा दीखती नहीं, इसलिये नहीं" यह

युक्ति कोई सप्रमाण एवं बलवती नहीं। क्योंकि जगत् में ऐसे पदार्थ हैं जिनका दर्शन तो नहीं होता है परन्तु उनकी सत्ता प्रमाण-सिद्ध है। एक ही साधन से सभी का ग्रहण नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के ग्रहण में भिन्न-भिन्न प्रमाण हैं। जैसे निर्दोष आँखों से पुष्प का तथा रूप का दर्शन होने पर भी उसमें जो गन्ध और रस है, उनका ग्रहण नेत्र से नहीं बल्कि दोष रहित नाक एवं जीभ से होता है, तो क्या आँख से न दिखाई देने मात्र से फूल में रस और गन्ध नहीं माना जाय? हम जो विचार करते हैं, उन विचारों का आधार है मन, पर क्या मन बाहरी इन्द्रियों से दीखता है? तो कहना पड़ेगा कि नहीं, परन्तु बाहरी आँख आदि इन्द्रियों से न दीखने पर भी मन का अस्तित्व माना जाता है, उसी प्रकार सबका प्रकाशक आत्मा का अस्तित्व भी मानना जरूरी है। आत्मा का प्रत्यक्ष निर्दोष बुद्धि से होता है। महात्मा लोग आत्मा का प्रत्यक्ष करते हैं। इसी प्रकार जगत् की विचित्रता और सुव्यवस्था को देखकर ईश्वर और धर्म का अनुमान होता है। अन्यथा यह वैचित्र्य संभव नहीं है।

ता० ४ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

नचिकेता ने आत्मा के "अस्ति और नास्ति" को लेकर जो संशय पैदा होता है, उसके निवृत्ति की प्रार्थना की। धर्मराज ने सोचा—नचिकेता आत्मज्ञान का अधिकारी है या नहीं इसकी परीक्षा करनी चाहिये। जिसप्रकार शुद्ध तथा छिद्ररहित पात्र में दुहा हुआ दूध ही सुरक्षित रहता है; उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण में ही ज्ञान पैदा होकर अज्ञान का नाश करता है। हम लोग संसार के लेन-देन में तो बड़ी परीक्षा करते हैं, एक मिट्टी के घड़े को भी चारों ओर से टटोलते और बजाते हैं, तब लेते हैं। कन्यादान में वर की खूब परीक्षा करते हैं

लेकिन ज्ञान-ग्राहक की परीक्षा नहीं करते, इसलिये वह ज्ञान सफल नहीं होता है। ऊसर भूमि में बीज वपन करने से वह अंकुरित नहीं होता। यम परीक्षा कर रहे हैं—हे नचिकेता ! छोड़ो आत्मतत्त्व की बातें, कोई दुनिया की बढ़िया चीज माँग लो। आत्मज्ञानको पाने में देव भी विफल हो गये।[1]

ता० ५ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

धर्मराज ने ऋषिकुमार नचिकेता को समझाया कि यह आत्म-अनात्म विचार बड़ा गहन है। प्राचीन काल में देवता भी इस विषय में असफल हो गये हैं, यह सूक्ष्मतत्त्व है। अधिकारी ऋषिकुमार ने कहा—हे धर्मराज ! बड़े सौभाग्य से आपके साक्षात् दर्शन हुए। यदि आपसे मुझे कुछ चीज वर में मिल रही है तो उसे बड़ी ही होनी चाहिये। आप आत्मा को सूक्ष्म बतला रहे हैं; परन्तु मुझे भी सूक्ष्म को ही जानना है। जो सरल है उसका ज्ञान तो सरलता से कहीं भी हो सकता है। मानव का कर्तव्य है, वह अज्ञात एवं कल्याणकारी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करें। जो किसी विषय को कठिन समझकर छोड़ देता है, वह उन्नति के शिखर पर आरूढ़ नहीं हो सकता। ज्ञात वस्तु का ज्ञान तो है ही, फिर पिसे हुए को क्यों पीसना ? मैं तो आत्मतत्त्व को ही जानना चाहता हूँ। आप जैसे वक्ता का अन्यत्र मिलना कठिन है।

ता० ६ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी

---

१. देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥
कठ० प्र० व० मं० २१।

बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

धर्मराज ने नचिकेता के सामने बहुत से मर्त्यलोक के एवं स्वर्गलोक के भोगों का प्रलोभन रखा। परन्तु ऋषिकुमार नचिकेता ने सभी की असारता प्रकट की और कहा कि हे यमराज! इन पदार्थों का क्या विश्वास, 'आज हैं तो कल नहीं।' विषयों का अनियमित सेवन शरीर एवं इंद्रियों की शक्ति को समाप्त कर देता है—सारा जीवन अल्प ही है[1]। ब्रह्मा की भी आयु कोई बड़ी नहीं है। मैं तो ज्ञान का पिपासु हूँ। मुझे आप कृपा करके सूक्ष्म तत्त्व का ही ज्ञान दीजिये। स्वामीजी ने कहा—मानवों से भिन्न हर जीवों में दो इच्छाएँ रहती हैं। एक बने रहने की—(न मरने की) और दूसरी सुख पाने की। परंतु मानव में इन दो इच्छाओं से अतिरिक्त यह भी इच्छा है कि मेरा ज्ञान बढ़े। ज्ञानवृद्धि की इच्छा केवल मानव में ही है, अन्य जीवों में नहीं। मानव से भिन्न जीवों में स्वाभाविक ज्ञान तो रहता है, परंतु वे अपने ज्ञान को बढ़ाना नहीं चाहते हैं। मनुष्य तो अपने ज्ञान की वृद्धि चाहता है। महामानव नचिकेता भी आत्मज्ञान के बाधक पदार्थों को न चाहकर आत्मज्ञान की इच्छा कर रहे हैं।

ता० ७ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

यमराज ने जब नचिकेता के सामने धन का प्रलोभन रखा तो

---

१. श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवतमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।
कठ० प्र० व० मं० २६

नचिकेता ने कहा 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'[1] वित्त से मानव की तृप्ति नहीं होती, एक के मिलने पर दो की आशा लगी ही रहती है। करोड़पति, अरबपति बनने की चिन्ता में निमग्न हैं। विश्वपति एवं ब्रह्माण्डाधीश को भी शान्ति नहीं है। शान्ति तो न्यायपूर्वक उपार्जित धन में सन्तोष करने से ही मिलती है। अनियन्त्रित कामों के करते रहने से सुख नहीं हो सकता है। कामनाओं का विनाश विना सन्तोष के नहीं होता। चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इनमें अर्थ का सम्बन्ध धर्म से करना चाहिये, काम से नहीं। काम का सम्बन्ध मोक्ष से होना चाहिये अर्थात् कामना मोक्ष की हो और धर्मपूर्वक अर्थ का उपार्जन करके उसका उपयोग भी धर्म में हो, तब तो शान्ति सम्भव है। यदि अर्थ की कामना बढ़ती जाय तो शान्ति असंभव है। विवेक के विना जीवन, धन, अधिकार सब दुःखप्रद हैं। अतः हे यम ! आप मुझे इस जीवन में ज्ञान दीजिये। कैसी तीव्र ज्ञानपिपासा है !

ता० ८ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

ऋषिपुत्र नचिकेता ने तन, धन एवं जीवन की असारता प्रकट की तथा उनमें दोष बतलाये ! वैसे तो संसार की वस्तुओं में कोई स्वभावतः गुण-दोष नहीं हैं। बल्कि हमारे उपयोग से कभी दोष प्रकट होते हैं, कभी गुण। एक ही आग है ! जब मनुष्य उसको नियन्त्रित रखता है तब उससे भोजन का निर्माण तथा शीत का निवारण होता है। उसी अग्नि से अपने को तथा दूसरों को जलाया भी जा सकता है। एक

---

१. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव।
कठ० प्र० व० मं० २७

ही लोहे से तलवार और तवा बनता है। मनुष्य अपने दिमाग से भौतिक पदार्थों का जैसा उपयोग करता है उसके अनुसार सुख एवं दुःख को पाता है। पदार्थों से स्वभावतः न कोई लाभ है और न कोई हानि। हानि-लाभ तो वस्तुओं के सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है। उसी प्रकार तन का यदि सदुपयोग हो तो दूसरों को लाभ और स्वयं मोक्ष प्राप्त कर सकता है और दुरुपयोग से नरक। धन से भी दूसरों को सुख पहुँचा कर धर्म किया जा सकता है और दुरुपयोग से अपकीर्ति और नरक मिलता है। जीवन भी 'सर्वभूतहिते रताः' का हो तो अमरत्व प्राप्त होता है, नहीं तो दीर्घ जीवन भी कष्ट ही देनेवाला है।

ता० ९ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

धर्मराज वैवस्वत ने ऋषिपुत्र नचिकेता के त्याग, विरागादि सद्गुणों की प्रशंसा करते हुए कहा—संसार में दो प्रकार के साधन हैं[1], श्रेय और प्रेय। श्रेय कहते हैं निवृत्ति, भक्ति और विद्या को। प्रेय कहते हैं प्रवृत्ति, आसक्ति और अविद्या को। श्रेय को अपनाने से मोक्ष, भगवान् एवं ब्रह्म की प्राप्ति होती है। प्रेय से भोग, भव तथा माया दुःख की उपलब्धि होती है। परन्तु ये श्रेय और प्रेय साधक के सामने ऐसे घुल-मिलकर आते हैं कि उन दोनों का विवेक करना बड़ा कठिन होता है। साधक चाहता तो है श्रेय को, परन्तु पहचान न होने के कारण प्रेय को अपना लेता है। जैसे कोई अनजान आदमी हीरे के बदले जौहरी की दुकान से काँच ले आता है। उसकी चमक और कम दाम समझ करके

---

१. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विवनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।
कठोप० द्वि० व० मं० २

काँच को ही पसंद करके लेता है। अमूल्य हीरे का वह परित्याग कर देता है। हम लोग भी प्रभु के इस गुणदोषमय संसार में से मिली हुई चीज़ को ही ग्रहण करते हैं अथवा अधिकतर दोषों को ही लिया करते हैं। होना तो यह चाहिये कि जैसे हंस पानी में से केवल दूध को लेता है और जल को छोड़ देता है, उसी प्रकार हमें श्रेय को लेकर प्रेय को छोड़ देना चाहिये।

ता० १० अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

धर्मराज नचिकेता की प्रशंसा कर रहे हैं कि हे नचिकेता, आपने प्रियतम आत्मा के सामने प्रियरूप शब्द आदि पाँचों विषयों को छोड़ दिया तथा प्रिय पुत्र, पौत्र, सगे-सम्बन्धियों का भी परित्याग कर दिया। यहाँ तक कि प्रियतर देह की भी आपको कोई परवाह नहीं है। संसार में ये ही तीन प्रकार के विषय होते हैं। प्रियरूप और प्रिय तथा प्रियतर। चतुर्थ प्रियतम तो अपनी आत्मा ही है। इतना बड़ा त्यागी मिलना कठिन है! आपने जागतिक स्थूल और सूक्ष्म एवं दिव्य विषयों का परित्याग कर दिया, सद्-असद् का पूर्ण विवेक किया, अतः आप पूर्ण परमहंस हैं। स्वामीजी ने कहा, संसार में दो प्रकार के साधक मिलते हैं, एक हंस कोटि के और दूसरे बक कोटि के। जिनकी दृष्टि साधना करते समय भी असत् संसारी पदार्थों में सकाम रहती है, वे बक कोटि के हैं। हमें हंस कोटि का साधक बनना है। शिव।

ता० ११ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी के आज के कठोपनिषद् के प्रवचन का यह सार है—

"इस दृश्य जगत् के अन्तःस्थल में विराजमान जो सूक्ष्म तत्त्व है,

उसको जानो।" वेदान्त मानव को यही शिक्षा देता है। वही तत्व आनन्द का सिन्धु है। उस आनन्द के कणमात्र से सम्पूर्ण विश्व आनन्दित है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र गणों को वही प्रकाश प्रदान कर रहा है; वह स्वयं प्रकाश है। हमारे भीतर अन्तरात्मा के रूप में वही परमात्मा विराजमान है। अन्तरात्मा में भी वे ही गुण हैं जो परमात्मा में हैं। जैसे जो प्रकाशिका और दाहिका शक्ति आग में है वही चिनगारी में भी है। जीव परमात्मा का ही अंश है। आत्मा और परमात्मा का अभेद ज्ञान ही ज्ञान है—विद्या है। अन्य सब अविद्या है। परन्तु उस आत्मा का ज्ञान न होने पर भी लोग अपने को विद्वान् एवं पण्डित मानते हैं। वेदान्त कहता है उन लोगों की स्थिति [1]'**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**' जैसी है। उस आत्मा को जानो जिसके कारण सारे नेह और नाते चलते हैं। दुनिया के लोग भी आत्मा से ही प्रेम करते हैं और रिश्ता रखते हैं शरीर से नहीं। यदि शरीर से रखते होते तो आत्मा के न रहने पर शरीर को क्यों जलाते! अतः उसी परम प्रेमास्पद आत्मा को जानो।

ता० १२ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में बताया—

जो विवेकी है, वह अपने को विवेकी नहीं बतलाता। परंतु जो अविवेकी है, वह अपने को धीर एवं पण्डित समझता है। घड़ा जब खाली रहता है तब शब्द करता है, जब वह पूरा भरा होता है तब उसमें से कोई शब्द नहीं निकलता। भात जब तक कच्चा रहता है तब

---

१. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

कठोप० द्वि० व० मं० ५

तक उसमें से भुद्‌भुद् की आवाज निकलती है, सिद्ध हो जाने पर कोई आवाज़ नहीं होती। नदियाँ तूफान मचाती हैं। सागर शान्त तथा मर्यादा में रहता है। अज्ञानी अपनी प्रशंसा खुद ही करता फिरता है। आत्मा सर्वत्र प्रकाशित है। परन्तु हमको उसका आभास नहीं मिलता। इतने मात्र से आत्मा का अभाव नहीं हो जाता। उल्लुओं की पंक्ति को भगवान् सूर्य के सर्वत्र व्याप्त प्रकाश के दर्शन नहीं होते तो क्या उस प्रकाश का अभाव हो जाता है? कदापि नहीं। उल्लुओं को वह दीखता नहीं, अन्य उस प्रकाश को देखते हैं। हम लोगों में जो परमहंस होते हैं वे आत्मप्रकाश का अनुभव करते हैं। उसको पाये बिना सारा संसार अन्धकारमय है।

ता. १३ अगस्त सन् १९६२ ई.। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद के प्रवचन में बताया—

धर्मराज ने नचिकेता से कहा, विषयासक्त भौतिकवादी लोग कहा करते हैं 'परमात्मा नहीं है'। परमात्मा उनको कैसे दिखाई दें? मन तो उनका दूसरी तरफ है। क्योंकि जिधर मन एवं इन्द्रियों की वृत्ति होती है उसी चीज का ज्ञान होता है। वे लोग कहते हैं **'अयं लोको नास्ति परः'**। इसलिये वे विषयों का सेवन अधिक करते हैं। अभिमान में चूर रहते हैं। संयम उनके जीवन में बहुत ही कम होता है। संयम के अभाव में बहुत जल्दी वे मृत्यु के ग्रास बनते हैं। अधर्म का आचरण करने के कारण भगवान् की आज्ञा से यम उनको अपने वश में कर लेते हैं। इसलिये यम कहते हैं **'पुनः पुनर्वशमापद्यते मे'**[1]। दूसरी

---

१. न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।
कठ० द्वि० व० मं० ६

जगह भी उपनिषदों में जीव की दुर्गति का वर्णन किया गया है—'**जायस्व म्रियस्व इत्येतत्तृतीयं स्थानम्**' जन्मो और मरो। उनके लिये स्वर्ग, ब्रह्मलोक एवं मोक्ष दुर्लभ है। अतः पुनरपि जननं पुनरपि मरणं के चक्कर से छुटकारा पाना है तो सत्य-दर्शन अपने जीवन में कर लो।

ता. १४ अगस्त सन् १९६२ ई.। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद के प्रवचन में कहा—

धर्मराज ने नचिकेता से कहा, हे नचिकेता! इस आत्मतत्त्व के विषय में बहुतों को सुनने को भी नहीं मिलता, क्योंकि वैसा उनका पुण्य ही नहीं है। आत्मवित् महात्माओं का दर्शन भी सुलभ नहीं है। यदि कदाचित् वे मिल भी जाते हैं तो उनके पास जाने की उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। पहुँचने पर महापुरुष सुनाते भी हैं तो अधिकारी न होने के कारण महापुरुषों का उपदेश उनकी समझ में ही नहीं आता। उस अलौकिक आत्मा का बोध करा देने की योग्यता का महात्मा भी अलौकिक ही है। और उसके अवबोध कराने पर आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति भी महान् एवं आश्चर्यमय है। हजारों में कोई एक हो सकता है।[1]

ता. १८ अगस्त सन् १९६२ ई.। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वर जी का आज का प्रवचन यह है—

आत्मा का ज्ञान बड़ा ही आश्चर्यमय है। आजकल लोग पूछ बैठते हैं कि आत्मज्ञान कैसा होता है? हमें दिखाओ! परन्तु वह आत्मज्ञान

---

१. श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः,
कठ, द्वि० व० मं० ७

दिखाया नहीं जा सकता। जैसे आपलोग मिठाई खाते हैं, लेकिन दूसरों को उसकी मिठास नहीं दिखा सकते। मिठाई बनाने का तरीका बतला सकते हैं। मिठास का अनुभव तो स्वयं सेवन करने पर होता है। उसी प्रकार ज्ञान-प्राप्ति का उपाय बतलाया जा सकता है परन्तु ज्ञान नहीं दिखाया जा सकता। अतः ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ? इस प्रकार साधन के विषय में प्रश्न होना चाहिये। वस्तुतः ज्ञान प्राप्त नहीं किया जाता; बल्कि अज्ञान की निवृत्ति की जाती है; याने ज्ञान को रोकनेवाले दोषों का निराकरण किया जाता है। ज्ञान तो स्वयं प्रकाश है। उसको न पैदा करना है और न प्रकाशित ही करना है। जैसे आँखों के सामने आये हुए बादलों के हट जाने पर सूर्य अपने आप प्रकाशित होता है, जैसे श्रीखण्ड के ऊपर लगी हुई काई को हटा देने से सुगन्ध अपने आप प्रकट हो जाती है उसके लिये अलग प्रयास नहीं करना पड़ता। उसीप्रकार मन-बुद्धि आदि के दोष हटा देने मात्र से आत्मा स्वयं प्रकाशित होती है।

ता. १९ अगस्त सन् १९६२ ई.। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयतिजी महाराज महामण्डलेश्वर ने कठापनिषद् के प्रवचन में कहा—

धर्मराज ने नचिकेता को बताया कि आत्मा का उपदेश देनेवाला महात्मा बड़ा आश्चर्यमय है। जहाँ से मन के सहित वाणी लौट आती है उस निराकार वस्तु को जो समझाता है वह महान् आश्चर्यमय है। साकार सगुण वस्तुओं का वर्णन तो उनके आकार और गुणों के माध्यम से किया जाता है परन्तु निराकार वस्तु को बतलाने के लिए कोई आधार नहीं है। फिर भी नेति-नेति कह करके वेद एवं महापुरुष आत्मा का वर्णन करते हैं। यदि वेद और महापुरुष आत्मा का वर्णन न करें तो उनका कोई महत्त्व ही न रहे। संसार के पदार्थों का ज्ञान तो हमें अन्य प्रमाणों से हो सकता है परंतु आत्मा का ज्ञान प्रथम

शास्त्र एवं महापुरुषों से होता है और पीछे साधनों को अपनाने से स्वयं साक्षात्कार होता है। इस प्रकार आत्मा का ज्ञान पानेवाला भी महान् आश्चर्यमय है।

ता० २० अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद के प्रवचन में बताया—

जब तक कोई तत्त्वदर्शी महापुरुष नहीं मिलता तब तक आत्मा के विषय में अनेक संशय बने रहते हैं। अज्ञान के तीन पर्दों से आत्मा घिरी हुई है। पहला पर्दा मल है, उसका विनाश वेद विहित सत्कर्मों से होता है। दूसरा पर्दा विक्षेप है, उसकी समाप्ति भक्ति के साम्राज्य में होती है। भक्ति में अहंभाव कम हो जाने से भक्त, भगवान् की इच्छा पर निर्भर रहता है। भगवान् भी भक्त के योग-क्षेम का वहन स्वयं करते हैं। जब भक्ति पराकाष्ठा में पहुँचती है तब ज्ञान का उदय होता है। 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः'[१] की प्रतिज्ञा के अनुसार भगवान् ज्ञान देते हैं। ज्ञान को पाते ही आत्मा और परमात्मा में भेद डालनेवाला जो तीसरा पर्दा आवरण है, वह समाप्त हो जाता है। उस समय आत्मा की वही दशा होती है जो बिन्दु की सिन्धु में मिलने से। नाम रूप समाप्त हो जाता है।

ता० २१ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्तिते। गी १० अ० १० श्लो०
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।
गी० अ० १० श्लो० ११

बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

भक्त जब अहैतुकी भक्ति द्वारा भगवान् के अत्यन्त समीप पहुँच जाता है, तब भगवान् भक्त को पुरस्कार के रूप में ऐसा ज्ञान देते हैं जिससे भक्त एवं भगवान् में भेद नहीं रह जाता। जैसे व्यवहार में रुई के बने हुए गद्दे, तकिये तथा रजाई में भेद है और उनका काम भी अलग अलग है। परन्तु उनको खोल देने पर सबकी रुई समान है। इसी प्रकार ज्ञान के द्वारा जब माया और अविद्या समाप्त हो जाती है तब चैतन्यतत्त्व एक ही रहता है। जीव शिवरूप हो जाता है तब वह अलग नहीं मालूम पड़ता। जैसे अलग अलग पुष्पों के रसों को मधुमक्खियाँ इकट्ठा कर लेती हैं, तब उन पुष्परसों में कोई भी फरक नहीं कर सकता। परन्तु ऐसा ज्ञान कब होता है? जब तत्त्वदर्शी महात्मा ज्ञान का उपदेश करते हैं "अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति।"

दैनिक लोकमान्य-कलकत्ता ता० २२ अगस्त १९६२ ई०। स्थानीय अग्रसेन स्मृति भवन में श्री स्वामी पवाहारी बालकृष्णयतिजी महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

जीव, शिवस्वरूप हो सकता है। क्योंकि दोनों एक स्वरूप हैं, केवल अज्ञान ने भेद डाल दिया है। मानव की भक्तिपरायणता से प्रसन्न हुए भगवान् जिस महामानव के हृदय में ज्ञान ज्योति जगा देते हैं, उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है। जैसे दो कमरों को अलग कर देनेवाली दीवार को हटा देने पर दोनों कमरे एक हो जाते हैं उसी प्रकार जीव एवं शिव में भेद करनेवाली माया के समाप्त हो जाने पर जीव, ब्रह्म हो जाता है। जीव एवं ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। वह परम प्रकाश एक है। सभी में वही प्रविष्ट है। बाहरी आकार प्रकार एवं क्रिया कलापों में अंतर होते हुए भी आत्मा में भेद नहीं है। जैसे

लट्टू, पंखा, लाऊडस्पीकर वगैरह में भेद होते हुए भी उनमें जो बिजली है उसमें कोई अन्तर नहीं है।

ता० २३ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ पवाहारी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद के प्रवचन में कहा—

सर्वत्र एक आत्मा है, परन्तु अज्ञान का एक ऐसा परदा पड़ गया है कि जीव-जीव में भेद हो गया है। ईश्वर तथा जीव में भेद मालूम पड़ने लगा। भेद से भय, घृणा एवं द्वेष पैदा हो गये। "**द्वितीयाद्वै भयं भवति**"। भय दूसरे से होता है, अपने से नहीं। मनुष्य जब एकान्त वन में जाता है तब अपने से भिन्न शेर या भूत की कल्पना करके डरने लगता है। घृणा एवं द्वेष भी हम दूसरे से करते हैं, अपने से कभी नहीं। इन तीनों के कारण आज विश्व में अशान्ति है। वेदान्त हमें बताता है किसी से भय, घृणा, द्वेष न करो, सभी तो अपने ही स्वरूप हैं। अपना वास्तविक रूप तो आत्मा ही है, देहादि नहीं। उसी से सब प्रेम करते हैं। सारे पदार्थों से जो प्रेम होता है, वह आत्मा के लिये होता है, याज्ञवल्क्य महर्षि ने यही बात कही है "**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**"।

ता० २५ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद के प्रवचन में कहा—

आत्मतत्त्व के विषय में केवल तर्क से जानकारी प्राप्त नहीं होती। इसी लिये "**नैषा तर्केण मतिरापनेया**[1] कहकर यमराज आत्मज्ञान

---

१. नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान् नचिकेतः प्रष्टा
कठ० द्वि० ९ मं०

को तर्क का अविषय बतला रहे हैं। वेदों में आत्माको मन एवं वाणी का अविषय कहा गया है। जब मन की पहुँच आत्मा तक नहीं है तब मन तथा बुद्धि से पैदा होने वाला तर्क आत्मा तक कैसे पहुँच सकता है ? मनुष्यों की बुद्धि अलग-अलग है। अपनी बुद्धि के अनुसार लोग तर्क करते हैं। एक ही वस्तु को कोई तर्क से कुछ बतलाता है और कोई कुछ, एकमत कभी भी नहीं होता। आजकल भी तर्क के अनुसार लोगों की आत्मा एवं धर्म के विषय में विभिन्न धारणायें हैं। परन्तु तर्कों के भेद से वस्तु में तो भेद नहीं हो सकता। वस्तु का तो कोई एक ही निश्चित स्वरूप होता है। अतः उसको समझने के लिये कोई निर्दोष प्रमाण आवश्यक है। आत्माको समझने के लिये वेद ही निर्दोष प्रमाण है, हाँ ! वेदानुकूल तर्क भी ग्राह्य है।

ता० २६ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पयाहारी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् की कथा में बताया—

धर्मराज ने नचिकेता से कहा, तुम्हारे जैसे प्रश्न करने वाले मुझे मिला करें। मैं तो जानता था कि संसार की चीजें नश्वर हैं। फिर भी मैंने इस यम पद को स्वीकार किया। उस समय इस यमपद ने मेरे मन को अपनी ओर खींच लिया। अब तो जब तक अधिकार समाप्त नहीं होता तब तक इस पद पर रहना ही पड़ेगा। तुमने तो पहले ही सब कुछ छोड़ दिया, मेरे देने पर भी नहीं लिया। श्रीस्वामीजी ने कहा, पूर्ण ज्ञानियों का ज्ञान हिमालय के उच्च शिखरों के बर्फ के समान है, वह विषय-संताप से नहीं गलता है। मध्यम ज्ञानियों का ज्ञान मन्सूरी आदि स्थानों के बर्फ के समान है, वह विषयों के संताप से गल जाता है। और विषयों में पड़े हुए लोग कलकत्ता आदि के समान हैं। उनके हृदयाकाश में विषयों का ताप अधिक होने से ज्ञानरूपी बर्फ बनती ही नहीं फिर गलने की बात ही कहाँ ? धर्मराज कह रहे हैं—

मेरा ज्ञान मध्यम दर्जे का था। वह विषयों के प्रलोभनों से तितर-बितर हो गया (नष्ट हो गया)। महाराज ने वासनाओं का भी वैज्ञानिक विश्लेषण किया।

ता० २७ अगस्त सन् १९६२ ई० श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा कि—

वेदान्त का कहना है, 'तं दुर्दर्शम्'[1] आत्मा का दर्शन बड़ा कठिन है, परन्तु असाध्य या असंभव नहीं है। आत्मतत्त्व बहुत पर्तों के अन्दर छिपा हुआ है। उन सबका भेदन करने से उसका दर्शन होता है। आत्मदर्शन का उपाय 'अध्यात्मयोग' है। 'अध्यात्मयोग' विषयों से हटी हुई आत्मा में लगी हुई चित्तवृत्ति को अथवा चित्तवृत्तियों के निरोध को कहते हैं—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**। यही अध्यात्मयोग आत्मप्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय है। विषयों में फँसी हुई बुद्धि के मलिन हो जाने से वह आत्मा का ग्रहण करने में असमर्थ है। निर्मल बुद्धि ही आत्मा में पहुँचती है जैसे कि गंगोत्तरी का ही निर्मल जल भगवान् रामेश्वर को चढ़ता है। वही जल जब पहाड़ों से नीचे उतरते-उतरते बस्तियों में गन्दगी से गन्दा हो जाता है तब उसकी स्वच्छता, शीतलता समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार विषयों के वश में होने से बुद्धि मलिन हो गयी है। अतः उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता। इसलिये जहाँ भी विषयों में बुद्धि जावे वहाँ से उसको रोके।

ता० २८ अगस्त सन् १९६२ ई० श्री १००८ स्वामी पवाहारी

---

१. तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
कठ, द्वि० व० १२ मं०

बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

[1]'साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी आत्मा का 'श्रवण' 'मनन' 'निदिध्यासन' (ध्यान) करके आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। यम ने कहा—हे नचिकेता ! तुम तो पूर्ण अधिकारी हो। तुम्हारे लिये ब्रह्म-भवन का द्वार खुला हुआ है[2]। श्रीस्वामीजी ने ध्यान की विधि का वर्णन करते हुए कहा—अधिक न हो सके तो थोड़ा-थोड़ा ब्राह्म-मुहूर्त में आप लोग ध्यान का अभ्यास करें। भगवान् के श्रीविग्रह पूजन से भी मन में स्थिरता आती है। यदि ध्यान, अभ्यास एवं अर्चन में मन न लगे तो कर्तव्य-कर्मों को करते हुए फल 'ईश्वरार्पण' करें। फल त्याग से भी शांति मिलती है[3]। धर्मराज के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर नचिकेता ने कहा—हे धर्मराज। यदि मैं आत्मतत्त्व के ग्रहण का अधिकारी हूँ तो आप मुझे उस तत्त्व को समझाइये, जो त्रिकालातीत. कार्य कारण से परे एवं अधर्म तथा धर्म से पृथक शुद्ध ब्रह्मत्त्व है।[4]

---

१. विवेक, विरति, शमदमादि और मुमुक्षुता,

२. एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ,
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये।
कठ. द्वि० व० १३ मं०

३. श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।
गी० १२ अ० १२ श्लो०

४. अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद् वद।
कठ. द्वि० व० मं. १४

ता० २९ अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में बताया कि—

शुद्ध ब्रह्म-स्वरूप आत्मा धर्म और अधर्म के संस्पर्श से सर्वथा रहित है, परन्तु आत्मा जबतक जीव भाव में रहती है तबतक स्थूल सूक्ष्म शरीर से युक्त होकर धर्म एवं अधर्म के फलों को भोगती है। धर्म का फल सुख एवं अधर्म का फल दुःख है। लोग धर्म का फल, सुख तो चाहते हैं किन्तु धर्म नहीं करते। अधर्म के फल, दुःख को नहीं चाहते, लेकिन अधर्म को बड़े प्यार से गले लगाये रहते हैं। अधर्म के करने से तो दुःख जरूर ही मिलेगा। सभी लोग सुख चाहते हैं। परन्तु किस लिये चाहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर कोई जल्द नहीं दे सकता। इसका समाधान यही है कि आत्मा सुख-स्वरूप है। अतः अपने केन्द्रभूत सुख की ओर हमारी आत्मा अग्रसर है जैसे मिट्टी का ढेला ऊपर फेंकने पर भी वह अपने केन्द्र पृथ्वी की ओर ही आता है। अग्नि की शिखा सूर्य की ओर ही जाती है। उसी प्रकार जीव ब्रह्मानंद की ओर ही उन्मुख है।

ता० ३० अगस्त सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्ण यति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

इस मंत्र की व्याख्या करते हुये बताया कि वेद आदि जो शास्त्र हैं, वे केवल भगवान् का ही प्रतिपादन करते हैं। संसार का अन्य व्यापार तो वेद के बिना भी चल सकता है; किन्तु अलौकिक सूक्ष्मतत्त्व का वर्णन बिना वेद के सहारे कोई नहीं कर सकता।

ता० ३१ अगस्त सन् १९६२ ई० । श्री० १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् की कथा में कहा—

धर्मराज नचीकेता को लक्ष्य करके मध्यम एवं मंद अधिकारियों के लिये आत्म-राज्य में प्रवेश पाने के लिये एक अवलम्बन दे रहे हैं। वह अवलम्बन है 'ॐ'[1] जो परमात्मा का वेद प्रसिद्ध नाम है। इस भगवन्नाम के सहारे साधारण साधक भी भगवद् धाम तक पहुँच सकता है। जैसे लाठी और डाण्डी के सहारे बूढ़े-बूढ़े भी बद्रीधाम तक पहुँच जाते हैं। श्रीस्वामीजी ने कहा—दूर में रहनेवाले मित्र के लिये जब हम अपने भावों का पत्र भेजते हैं तब पत्र में पहले उस व्यक्ति का

---

१. एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्,
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्,
कठ, द्वि. व. १६ मं.

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्,
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते,
कठ, द्वि. व. १७ मं.

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः,
तस्माद् विद्वान् एतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति। प्रश्नोप. पं. प्र. २ मं.
ॐ इत्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति
सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।
माण्डूक्योप. १ मं०

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्,
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।
गी. ८ अ. १२ श्लो.

नाम लिखते हैं, नाम के बिना, सारे पते के रहने पर भी पत्र नहीं मिल सकता। उसी प्रकार भाव एवं प्रेम से भरे हुये मनरूपी पत्र को भगवान् तक पहुँचाना चाहें तो ॐ या अन्य भगवन्नामों के सहारे पहुँचा सकते हैं। सारी शब्द-राशि ॐ का ही प्रसार है। अतः अन्य नाम ॐ कारके ही स्वरूप हैं। जिनको जो नाम गुरु से मिल गया— वही ठीक है परन्तु अन्य नामों से द्वेष न करें।

ता. १ सितंबर सन् १९६२ ई.। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

भगवान् के दो रूप हैं, सगुण एवं निर्गुण, ये दोनों रूप दुर्लभ हैं। किन्तु ॐ के अवलंबन से दोनों रूप सुलभ हो जाते है। क्योंकि कहा है—**'यदिच्छति तस्य तत्'** जो जिस रूप की इच्छा करता है वह उसे प्राप्त करता है। भगवद्रूप प्राप्त करना साधक की भावना पर निर्भर है। जैसे विद्यालय में प्रवेश पाने के लिये विद्यालय के रजिस्टर में अपना नाम दर्ज कराना आवश्यक है। उसी प्रकार अपने हृदय में भगवान् के प्रवेश के लिये भगवन्नाम जरूरी है। भक्ति के साम्राज्य में नाम का बड़ा महत्त्व है। नाम संकीर्तन से मनोनिरोध अपने आप होने लगता है। बेकार पड़े हुए मन में दुनिया की व्यर्थ बातें आया करती हैं। यदि मन के साथ हम जिह्वा से ॐ या शिव शिव का उच्चारण करें तो सारे विकार मन से दूर हो जायेंगे। जैसे खेतों में से पक्षियों को हटाने के लिये किसान टीनों को बजाते हैं, उसीप्रकार भगवन्नाम कीर्तन मनोविकारों को दूर करने के लिये सर्वोत्तम उपाय है।

ता. २ सितम्बर सन् १९६२ ई.। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी के कठोपनिषद् के प्रवचन का सार आज यह है—

आत्मा में कोई भी विकार नहीं है। संसार के भाव पदार्थों में छः भावविकार होते हैं[1] जैसे गेहूँ बोने से अंकुर पैदा होता है। उसके बाद गेहूँ की सत्ता होती है। फिर वह बढ़ने लगता है। आगे चलकर वह कई रूपों में बदल जाता है। फिर गेहूँ का पौधा धीरे-धीरे पीला पड़कर क्षीण होने लगता है। अन्ततोगत्वा वह पौधा समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जन्म से लेकर नाश तक जो छः विकार हैं वे आत्मा से भिन्न देहादि में हैं। आत्मा का न जन्म है, न मरण। इसलिये धर्मराज कह रहे हैं 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्[2]। आत्मा का जन्म-मरण तो वैसा ही है जैसा सूर्य का उदय एवं अस्त। सूर्य के उदय होने पर कोई नया सूर्य पैदा नहीं होता है और अस्त होने से उसका नाश नहीं होता। वह तो अपने स्थान पर समान रूप से प्रकाशमान हो रहा है। जो सूर्य भारत में तप रहा है वही अमेरिका में भी। आत्मसूर्य एक ही है। वही भूत, वर्तमान, भविष्य के देहों को प्रकाशित करता है। देहों में अंतर है, आत्मा में नहीं।

ता० ३ सितम्बर सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वर जी के कठोपनिषद् के प्रवचन का सार यह है—

यह संसार है। जगत् एवं संसार शब्द ही बतलाते हैं कि यह अनित्य है, परिवर्तनशील है। संसार में परिवर्तन बड़े तेजी से हो रहे हैं। संसार क्षण-क्षण में बदल रहा है। हम लोग समझते हैं कि हम लोग

---

१. जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते,
नश्यति। निरुक्त

२. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्,
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।
कठ. द्वि. व १८ मं.

बढ़ रहे हैं, किन्तु अपने हृदय में विचारो ! क्या हमारी आयु बढ़ रही है ? या घट रही ? कहना होगा कि धीरे-धीरे घट रही है। एक-एक वर्ष कम हो रहा है। इसी प्रकार सभी जागतिक पदार्थों में परिवर्तन हो रहा है। इन सभी परिवर्तनों के अन्दर एक आत्मा अपरिवर्तनीय है, वह नहीं बदलती है। यदि किसी को आत्मा भी बदलती हुई मालूम पड़े तो वह अज्ञान एवं भ्रम है, केवल आरोपमात्र है। जैसे हरे चश्मे से सारी दुनियाँ हरी दिखाई देती है। परन्तु सारे पदार्थ हरे नहीं हैं, वे तो अपने स्वरूप में ही रहते हैं। आत्मा स्वयं सिद्ध है वह बनती नहीं है। जैसे घड़े को कुम्हार बनाता है परन्तु उसके बीच में अवकाश देनेवाले आकाश को नहीं, वह पैदा नहीं होता वह तो पहले से ही विद्यमान है। इसी प्रकार आत्मा तीनों काल में एक रस है।

ता० ४ सितम्बर सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वर जी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में बताया—

जन्म-मरण आत्मा के धर्म नहीं हैं बल्कि देह के धर्मों का आत्मा में आरोपमात्र है। जैसे कोई आदमी नाव में बैठा हुआ चला जा रहा हो और उसकी दृष्टि नदी के किनारे खड़े पेड़ों पर पड़े तो उसे मालूम होगा कि वृक्ष चल रहे हैं और नाव खड़ी है। परंतु बात उलटी है। नौका चल रही है न कि वृक्ष। आत्मा के विषय में भी यही भ्रम है। आत्मा न तो मारती है न मरती है। मकान के नष्ट होने पर भी मकान के भीतर का आकाश नष्ट नहीं होता, वह सूक्ष्म है। आत्मा तो और सूक्ष्म है। प्रकृति का आघात आत्मा में नहीं पहुँचता। संघर्ष केवल प्रकृति में है, आत्मा में नहीं। प्रकृति ही कर्ता, करण एवं कार्य के रूप में बदल करके आपस में टकराती है। बुद्धि से लेकर शरीर तक केवल प्रकृति का विस्तार है। इन्हीं में बाध्य-बाधक भाव है। इसी लिये धर्मराज कह रहे हैं—'उभौ तौ न विजानीतौ नायं हन्ति

न हन्यते[1]। विचित्रता और अनेकता प्रकृति में है। एक बीज से जैसे पौधे में अनेक प्रकार के पत्ते-फूल-फल एवं शाखायें पैदा होती हैं वैसे ही प्रकृति में विषमता आ जाती है। आत्मा निर्विकार एकरस एवं अचल है। गाड़ी चलती है परंतु गाड़ी में बैठे हुए आदमी कहते हैं, हम चल रहे हैं। परंतु वे कहाँ चल रहे हैं? वे तो बैठे हुए हैं। इसी प्रकार इस सचल प्रकृति में आत्मा अचल है।

ता० ५ सितम्बर सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वर जी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

ऋषिकुमार नचिकेता को धर्मराज, आत्मा के परिमाण के विषय में बतला रहे हैं **आत्मा अणु से भी अणु है एवं[2] महान् से भी महान्**। क्योंकि उसी आत्मप्रकाश से सभी अणु एवं महान् पदार्थ प्रकाशित हैं। जैसे प्रकाश से राई भी भासित होती है तथा बड़े-बड़े पहाड़ भी। प्रकाश का संबंध प्रकाशित होनेवाले छोटे पदार्थ से भी है और बड़े से भी। अतः प्रकाश छोटा भी कहा जा सकता है और बड़ा भी वस्तुतः प्रकाश न छोटा है, न बड़ा। वह तो अपने निर्विकार रूप में स्थित है। इस प्रकार के आत्मदेव का मंदिर हृदय है। वैसे तो वह सर्वत्र है परन्तु उसका साक्षात्कार हृदय में ही होता है। यह शंका हो सकती है कि वह विशाल ब्रह्मतत्त्व छोटे से हृदय में कैसे आता है?

---

१. हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
कठ, द्वि. व. १९ मं.

२. अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायां।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान् महिमानमात्मनः॥
कठ, द्वि. व. २० मं.

तो इसका समाधान यही है कि सारी दुनियाँ की बड़ी-बड़ी वस्तुयें जिस प्रकार हमारे हृदय में समा जाती है, उसी प्रकार विशाल आत्मतत्त्व भी। जिस प्रकार एक छोटे से कमरे में एक बड़े भारी पहाड़ का चित्र आ जाता है, उसी प्रकार उस व्यापक परमात्मा का दर्शन हृदय में होता है।

ता० ६ सितम्बर सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी-बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वर जी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में बताया—

आत्मदर्शन का सर्वोत्तम शास्त्रीय स्थान हृदय है। उसे छोड़कर लोग भगवान् को ढूँढ़ने अन्यत्र जाते हैं। वे तो छोटे से हृदय में समाये हुए हैं। जैसे यह सारा दृश्य हमारी आँखों में समाया हुआ है। कितनी छोटी हैं आँखें! बहुत छोटी होने पर भी हमारी आँखें बड़े-बड़े दृश्यों को ग्रहण करती हैं। फिर हृदय के विषय में क्या पूछना है! वह तो सभी भूतों के सात्विक अंश से बना है। उसमें बड़ी स्वच्छता है। वह आत्मा को ग्रहण करने में पूर्ण समर्थ है। परन्तु जब तक मन्दिर का फाटक बन्द रहता है तबतक उसमें विराजमान भगवान् के दर्शन नहीं होते। उसी प्रकार हमारे हृदय में विषयवासना एवं विषयकामना के दोहरे पट्ट लगे हुए हैं। जबतक इन दोनों का विनाश नहीं होता तबतक आत्म-दर्शन दुर्लभ है। हमारा प्रयत्न केवल पर्दे को हटाने के लिये ही होना चाहिये। हृदयमन्दिर में विराजमान आत्मदेव का दर्शन स्वयं ही हो जायगा। यदि कामना हो तो मोक्ष की हो, न कि भोग की। परन्तु हम लोग कल्पवृक्षरूपी मानव शरीर को पाकर भी क्षुद्र-कामना करते हैं, पर्दा और भी मजबूत हो जाता है।

ता० ७ सितम्बर सन् १९६२ ई०। श्री १००८ पयाहारी बाल-कृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वर जी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

आत्मा सगुण भी है और निर्गुण भी। जब वह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में रहती है तब न चलती और न किसी प्रकार विकृत होती है। परन्तु जब आत्मा का मन एवं बुद्धि तथा देह इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध हो जाता है, उस समय उपाधियों की क्रिया आत्मा में मालूम जैसी पड़ती है, यही आत्मा की सगुणावस्था है। परन्तु इस दशा में भी आत्मा की निर्गुणता समाप्त नहीं होती है। जैसे कि हम दौड़ते हैं हमारे साथ प्रकाश न दौड़ते हुए भी हमें अपने साथ दौड़ता हुआ मालूम होता है। परन्तु वह अपने स्वरूप में स्थित है। आत्मा की सगुणावस्था में ही प्रकृति एवं प्रकृति के कार्यों में चेष्टायें होती हैं। आत्मा की सगुणावस्था के बिना जड़ प्रकृति में कोई भी हरकत नहीं हो सकती। सगुण एवं निर्गुण आत्मा का ज्ञान धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं। धीर वेही हैं जो अपने मन की वृत्तियों को देखते हैं, उन पर नियंत्रण रखते हैं। मानसिक जगत् ही क्लेश का कारण है। जिसने मन को जीता, उसने जगत् को जीत लिया। **जितं जगत् केन? मनो हि येन।**

ता० ८ सितंबर सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वर जी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

धीर पुरुष आत्मतत्त्व को जानकर संसार की चिन्ताओं से विनिर्मुक्त हो जाता है[1]। शरीर पर दृष्टि रहने से ही शारीरिक कष्ट प्रतीत होते हैं तथा मन का ख्याल रहने से मानसिक क्लेश मालूम पड़ते हैं। संसारी प्राणी भी जब तन एवं मन को भूल जाते हैं तब वे दुःखों से थोड़ी

---

१. अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।

कठ. द्वि. व. २२ मं.

देर के लिये छूट जाते हैं। परन्तु उनकी यह स्थिति स्थायी नहीं होती। महात्मा लोग ऐसी दशा को ध्यान एवं विवेक से प्राप्त करते हैं। ऐसी घटनाएँ इतिहासों में बहुत सुनी जाती हैं कि अमुक महात्मा ने अपने तन को दूसरे के लिये समर्पण कर दिया। यह देहाध्यास के परित्याग का फल है। महापुरुष आत्म-दृष्टि युक्त होते हैं। उनकी मैत्री एवं करुणा भी आत्मा को लेकर होती है—जीवमात्र से होती है, क्योंकि आत्मा सब में समान रूप से व्याप्त है। जो लोग पद, प्रतिष्ठा एवं रूप आदि को लेकर मैत्री करते हैं, वह मैत्री निमित्त के विनाश से विनष्ट हो जाती है, आत्मीय मैत्री स्थायी होती है।

ता० ९ सितम्बर सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वर जी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में बताया—

आत्मा का साक्षात्कार तभी होता है जब मन केवल भगवान् को ही चाहता है, यही बात यमराज कह रहे हैं–'यमैवैष वृणुते तेन लभ्यः।[1] जो साधक केवल आत्मा का ही वरण करता है, वही आत्मा को पाता है। केवल अध्ययन एवं अध्यापन तथा बहुत से ग्रन्थों को धारण करने से आत्मा लभ्य नहीं है। जब आत्मानन्द का स्वाद मिलने लगता है तब वाणी अपने आप चुप हो जाती है। बादल तो वे ही ठीक हैं जो बरसते हैं, गरजते नहीं। वैसे ही मानव वही ठीक है जो आत्मानुभूति करता है—कहता नहीं। जो आनंदानुभूति भी करता है और कहता भी है, वह भी ठीक है। जो अनुभव किये बिना ही अपने को आत्मतत्त्व का ज्ञाता बतलाता है, वह तो एक रेकार्ड से बढ़कर और कुछ नहीं है—केवल मनबहलाव है।

---

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्,॥
कठ. द्वि. व. २३ मं.

ता० १० सितम्बर सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वर जी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

यह निश्चित हो गया कि परमात्मा में लगा हुआ मन ही भगवान् का दर्शन कर सकता है। भगवान् में किस प्रकार का मन लगता है? इस पर यमराज ने कहा हे नचिकेता! जो मन निष्पाप है—वही भगवान् का दर्शन कर सकता है। क्योंकि 'नाविरतौ दुश्चरितात्'[१] जो दुश्चरित्र से मुक्त नहीं है, जिसकी इंद्रियाँ विषयों को देखते ही बेकाबू हो जाती हैं, जो मन बहुत चञ्चल है तथा चमत्कार के पीछे पड़ा हुआ है, वह भगवान् का साक्षात्कार कभी नहीं कर सकता। स्वामीजी ने सदाचार पर बड़ा जोर दिया और कहा—साधनावस्था में इन्द्रियों पर भी कन्ट्रोल रखना जरूरी है। जैसे पेड़ पौधों को लगाते समय उनकी रक्षा के लिये बाड़ बनानी पड़ती है पर पीछे बड़े होने पर उनकी रक्षा की कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती। वैसे ही मन को बचाने के लिये भी इन्द्रियों को रोकना पड़ता है।

ता० ११ सितम्बर सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

नचिकेता ने धर्मराज से पूछा—हे धर्मराज! आप कहते हैं—आत्मा निर्विकार है, तब कर्मफल को कौन भोगता है? और किसकी प्रेरणा से दिन-रात की भाँति सुख एवं दुःख रूप फल होते हैं? 'धर्मराज ने कहा—हे नचिकेता! यद्यपि आत्मा शुद्ध रूप में निर्विकार है किन्तु

---

२. ना विरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
कठ. द्वि. व. २४ मं.

चैतन्य आत्मा का प्रतिबिम्ब बुद्धि तत्त्व में पड़ता है, उसी का नाम जीव है, वही अपने किये कर्मों का फल भोगता है। ईश्वर उसके किये हुए कर्मों का लेखा जोखा ठीक से रखते हैं और समय आने पर जीव के कर्मों का फल कभी सुख एवं दुःख के रूप में देते हैं। जीव एवं ईश्वर में व्यावहारिक दशा में बड़ा अन्तर है। इसलिये 'छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति[1]'। ज्ञानी लोग संसार दशा में जीव एवं ईश को छाया और प्रकाश के समान कहते हैं। ये दोनों एक ही हृदय स्थान में रहते हैं, जैसे एक लट्टू के सामने एक दर्पण रखने पर दर्पण में सामान्य प्रकाश भी रहता है और प्रतिबिम्ब भी। वैसे ही एक हृदय में दोनों जीव एवं ईश्वर रहते हैं।

ता० १२ सितम्बर सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वर जी ने कठोपनिषद् के प्रवचन में कहा—

अनन्त जीवों के अनन्त कर्मों के फल को कोई सर्वज्ञ ही दे सकता है। साधारण जीव कर्मफलों का विभाजन नहीं कर सकता। कर्म भी जड़ हैं, वे स्वयं फल नहीं दे सकते। अतः फलदाता के रूप में सर्वज्ञ ईश्वर जागरूक रहते हैं। इसीलिये व्यासजी ने कहा—'फलमत उपपत्तेः' फल का मिलना ईश्वर से ही संभव है।

किसी वस्तु के निर्माण में तीन चीजों की आवश्यकता है, ज्ञान-इच्छा एवं क्रिया-शक्ति। जिस वस्तु का ज्ञान जिस आदमी को रहता है, वही उस वस्तु को बना सकता है। इसलिये निर्माण में प्रथम ज्ञान की जरूरत है। ज्ञान होने पर भी इच्छा के अभाव में कोई कार्य बन नहीं

---

१. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।
कठ, तृ. व. १ मं.

सकता । अतः द्वितीय साधन इच्छा है । ज्ञान एवं इच्छा के रहते हुए भी बिना क्रिया शक्ति के कार्य नहीं होता । इसलिये कार्य में क्रियाशक्ति भी आवश्यक है । इसी प्रकार जगत् बनाने का ज्ञान एवं इच्छा तथा क्रियाशक्ति वाला ईश्वर है, उसकी अनुकम्पा हर जीव को प्राप्त करनी चाहिये ।

ता० १३ सितम्बर सन् १९६२ ई० । श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने कठोपनिषद् की कथा में कहा—

यह मानव शरीर **'एक प्रकार का[1] रथ' है**। जीवात्मा इस रथ का स्वामी है। बुद्धि ही संचालक एवं सारथी है। पञ्चकर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ घोड़े हैं। मन उनमें लगाम है। यदि बुद्धि रूपी सारथी में विवेक न हो तो, वह जीव रूपी स्वामी को गन्तव्य स्थान तक न पहुँचा कर संसार में गिरा देता है। इसलिये बुद्धि में विवेक का होना जरूरी है। बुद्धि में सत्संग से ही विवेक पैदा होता है। जो सत्संग करता है उसको अवश्य थोड़ा-थोड़ा लाभ होता है, पाप नष्ट होते हैं। जैसे एक पोटली सरसों में से एक दाना निकाल देने पर मालूम तो नहीं पड़ता पर निकल जरूर जाता है। धीरे-धीरे एक-एक दाने के निकल जाने से वह सारी पोटली समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार सत्संग से पाप धीरे-धीरे नष्ट होते हैं और विवेक बढ़ता है। इस विवेक को आहार विहार से सुरक्षित रखना पड़ता है।

---

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
कठ. तृ. व. ३ मं.

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
कठ, तृ. व., ४ मं.

ता० १४ सितम्बर सन् १९६२ ई०। श्री १००८ स्वामी पवाहारी बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी ने आज के कठोपनिषद् के प्रवचन में—

आहार विहार सुधारने को कहा—जब तक आहार विहार शुद्ध नहीं होता है तब तक सत्त्व की शुद्धि नहीं हो सकती। इसलिये उपनिषद् में कहा है—

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥ छान्दोग्यः अ० ७



प्रवचन सार सन् १९६० ई०

सन्मार्ग, ९ जुलाई, सन् १९६०, कलकत्ता। उत्तर-प्रदेश काशी-क्षेत्र के प्रसिद्ध सन्त-महामण्डलेश्वर श्री स्वामी पवाहारीजी महाराज आजकल स्थानीय अग्रसेन-स्मृति-भवन में नित्य दिन में २ से ४ बजे तक श्रीमद्भागवत महापुराण का प्रवचन कर रहे हैं। महाराज श्री की कथन शैली एवं भाषा बड़ी मधुर एवं रोचक है और आपकी व्याख्या भावपूर्ण एवं हृदयग्राही है। अधिकाधिक जनता इस अवसर से लाभान्वित हो रही है। यह प्रवचन-क्रम दो मास तक लगातार उक्त स्थान एवं समय पर चालू रहेगा।

कल दशमस्कन्ध का प्रारंभ करते हुए स्वामीजी ने भगवत्प्राप्ति को ही जीवन का परम लक्ष्य सिद्ध किया और बताया कि जब प्राणी का हृदय भक्ति से ओतप्रोत होता है, तभी उसे उस परमतत्त्व सच्चिदानन्द का दर्शन होता है। निर्मल भक्ति की प्राप्ति का एकमात्र साधन सत्संग है, जो बड़े पुण्य के उदय होने पर प्राप्त होता है। सत्संग के द्वारा भक्ति और भक्ति के द्वारा सच्चिदानंदघन भगवान् की प्राप्ति होती है।

लोकमान्य, ता० १२ जुलाई, सन् १९६० ई०, कलकत्ता। उत्तर-प्रदेश काशी के प्रसिद्ध सन्त बालकृष्णयति महाराज महामण्डलेश्वरजी अग्रसेन-स्मृति-भवन में श्रीमद्भागवत की रसमयी कथा सुना रहे हैं। श्रीचरण ने दूसरे दिन की कथा में अवतारवाद पर काफी प्रकाश डाला। आपने कहा—भक्तों की प्रेममयी भावना से भगवान् निराकार होते हुए भी साकार हो जाते हैं। जैसे बर्फ और जल में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है, वैसे ही निराकार और साकार में भी अन्तर नहीं है। परमात्मा विश्वरूप भी है तथा विश्वोत्तीर्ण भी। भगवान् के गुणगण ऐसे

दिव्य और अलौकिक हैं कि किसी को भी उनके श्रवण से तृप्ति नहीं होती है। केवल आत्मघाती मनुष्य भले ही भगवान् के गुणानुवाद से विरत हों, परन्तु जो ज्ञानी है तथा संसार से पार होना चाहता है वह तो भगवत्कथा को अपने गले का हार बना लेता है। मोह के वश होने से आत्मा में जो बंधन आ गया है, उसकी निवृत्ति केवल परमात्मा के साक्षात्कार से ही होती है। महामुनि परमहंस शुकदेवजी जिस कथा के वक्ता हैं, वहाँ कैसे श्रोताओं में आलस्यभाव आ सकता है ? अनन्य-दर्शी महात्मा जब उस तत्त्व का उपदेश करते हैं तो सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जिसके हाथ खुले रहते हैं वही दूसरों के बंधन छुड़ा सकता है। नहीं तो 'अन्धस्यैव अन्धलग्नस्य विनिपातः पदे-पदे' की उक्ति चरितार्थ होती है। श्री स्वामीजी के डेढ घण्टे के प्रवचन को श्रद्धालु जनता बड़े प्रेम से सुनती रही।

लोकमान्य, ता० १३ जुलाई, सन् १९६० ई०, कलकत्ता। अग्रसेन-स्मृति-भवन में अनन्त श्रीविभूषित पवाहारी श्री स्वामी बालकृष्णयतिजी महाराज महामण्डलेश्वर आजकल श्रीमद्भागवत की अमृतमयी कथा कर रहे हैं। श्रीचरण की कथा श्रावण और भाद्रपद दो माह तक कथाप्रेमी श्रद्धालु भक्तों को सुनने का अवसर प्राप्त होगा। महाराज श्री की कथन-शैली अतीव हृदयग्राही है। स्वामीजी ने कहा कि जिस भगवान् के चरणों का आश्रय करके पाण्डवों ने कौरव-सैन्य-सागर को वत्सपद के समान पार किया ऐसे भगवान् के यश और गुणगणों को सुनने के लिए परीक्षित् अति उत्सुक थे। परीक्षित् भगवान् को अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के नायक मानते हुए भी अपने पूर्वजों का तथा अपना हितकर्ता और संरक्षक मानते थे। महाभारत-युद्ध में पाण्डवों की विजय का कारण केवल भगवान् के चरणों में पाण्डवों की भक्ति ही थी। महाभारत-युद्ध ऐतिहासिक होते हुए भी वह दानवता और मानवता का युद्ध था। एक तरफ काम था, एक तरफ त्याग और भगवान् श्याम थे। एक ओर योग और दूसरी ओर भोग। एक पक्ष में अध्यात्मवाद

और दूसरे पक्ष में भौतिकवाद था। अन्त में विजयवैजयन्ती अध्यात्मवाद के कण्ठ में ही पड़ी। 'यतो धर्मस्ततो जयः' ही हुआ।

भीष्मपितामह जैसे अतिरथियों के रहते हुए भी भौतिकवादावलम्बी भोग को ही जीवन का सार-सर्वस्व मानने वाले कौरवों की हार हुई। ईश्वरीय नियम का परिपालन करनेवाले पाण्डवों की रक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व भगवान् ने स्वयं अपने हाथों उठाया। ईश्वरीय अनुग्रह से ही मानव अभ्युदय और निःश्रेयस का भागी हो सकता है। दुःख का कारण अविवेक है और सुख का उदय विवेक से होता है। अतः मानव को पाण्डवों के समान धैर्य और विवेक को स्वीकार करना चाहिये। जिनमें कुटिलता नहीं होती है उन्हीं के हृदयागार में प्रभु विराजमान रहते हैं। उपनिषद् भी इसी बात का निर्देश कर रहे हैं।

सन्मार्ग कलकत्ता १८। जुलाई। १९६० सन्

मन को भगवान् में समर्पण कर सुखी होओ

पवाहारी बाबा का उपदेश

वंगीय धर्मसंघ के साप्ताहिक सत्संग के अवसर पर उत्तर भारत के प्रसिद्ध संत हथियाराम पीठाधिपति श्री स्वामी बालकृष्णयति पवाहारी बाबाजी ने अपने उपदेश में बताया कि मानव-जीवन बड़ा दुर्लभ है और भाग्य से प्राप्त होता है। अनेक जन्मों के दुःख पुञ्जों के निवारण और परमानंद की प्राप्ति का परम सुलभ साधन है। यदि इस शरीर को प्राप्त करके भी लक्ष्य की सिद्धि नहीं हुई तो परम हानि है। आपने आगे बताया कि शास्त्रोक्त स्वधर्म के यत्नपूर्वक अनुष्ठान द्वारा मन बुद्धि आदि निष्कलंक और पवित्र होते हैं। पवित्र मन को भजन आदि द्वारा भगवान् में अर्पण करके प्राणी अमृतत्त्व की प्राप्ति कर लेता है और चिर सुखी हो जाता है। अतः स्वधर्म का अनुष्ठान करते हुए भगवान् के भजन पूजन एवं उनके गुणानुवाद का श्रवण करना प्राणी का मुख्य कर्तव्य है। धर्मसंघ के महामन्त्री श्री सूर्यनाथ पाण्डेय ने स्वामी जी महाराज का

परिचय देते हुए, धन्यवाद दिया। वंगीय धर्मसंघ के प्रधानमंत्री श्री छोटेलाल जी कानोडिया ने प्रारंभ में महाराज का स्वागत करते हुए उन्हें माल्य प्रदान किया।

सन्मार्ग कलकत्ता ११ अगस्त, सन् १९६० ई०

श्री पवाहारी जी द्वारा भागवत की कथा

बड़ा बाजार में स्थित अग्रसेन स्मृति भवन में चातुरमास्य के हेतु आये हुए अनन्त श्री विभूषित पवाहारी श्री स्वामी बालकृष्णयति जी महाराज का सदुपदेश दोपहर में २ से ४ बजे तक हो रहा है। कल के अपने दिव्य प्रवचन में श्री स्वामीजी ने दशम स्कन्ध भागवत के उस स्थान पर प्रकाश डाला जिस स्थान पर लिखा है—"विश्वात्मा भगवान्, वसुदेव के मन में प्रविष्ट हुए।" महाराज जी ने कहा—परमात्मा व्यापक होते हुए भी हृदय में ही देखे जाते हैं। उपनिषदों में भी प्रभु को 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः' कहा गया है। मनुष्य का हृदय अंगुष्ठ परिमित ही है। अतः उसमें प्रकट व्यापक ब्रह्म को भी अंगुष्ठमात्र कहा गया है। विशाल वस्तु भी छोटे पदार्थ में प्रतिबिम्बित होती है। बड़ा से बड़ा आदमी भी छोटे से दर्पण में प्रतिबिम्बित हो जाता है।

सन्मार्ग कलकत्ता १२ अगस्त, सन् १९६० ई०

श्री पवाहारी जी द्वारा भागवत की पुनीत कथा

बड़ा बाजार स्थित अग्रसेन स्मृति भवन में चातुर्मास्य के लिये पधारे हुए श्री पवाहारी बाबा स्वामी बालकृष्णयति जी महाराज का सदुपदेश नित्य दोपहर में २ से ४ बजे तक होता है। कलके अपने दिव्य प्रवचन में श्री स्वामीजी ने भागवत के दशम स्कन्ध 'सर्वदेवतामयी देवकी ने' 'मंगल भवन, अमंगलहारी, सर्व प्रकाशक, उस प्रकाश पुञ्ज को महाभाग वसुदेवजी के हृदय से अपने हृदय में, निर्मल मन से धारण किया!' इस पर प्रकाश डाला।

सन्मार्ग कलकत्ता २७ अगस्त, सन् १९६० ई०

सगुण स्वरूप में ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति क्यों ?

श्री स्वामी पवाहारी महाराज का प्रवचन

बड़ा बाजार स्थित अग्रसेन स्मृतिभवन में उत्तरप्रदेश के प्रसिद्ध सन्त स्वामी बालकृष्णयतिजी ने श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध पर प्रवचन करते हुए कहा कि परमात्मा के दो स्वरूप हैं एक निराकार निर्गुण और दूसरा साकार दिव्यातिदिव्य लीला विग्रहधारी सगुण। हमारा मन निराकार में जल्दी नहीं लग सकता है; परन्तु मृदुल दिव्य लीला विग्रह में लग जाता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्'।



सन्मार्ग कलकत्ता ता० ३१ जुलाई १९६० ई०

पुराण वेदव्यास की करुणा

(पवाहारी श्री बालकृष्णयतिजी महाराज वेदान्ताचार्य महामण्डलेश्वर)

महर्षि वेदव्यासजी द्वारा विरचित पुराणशास्त्र भारतीय वाङ्मय में अपूर्व स्थान रखते हैं। पंचलक्षण लक्षित पुराणों का भी प्रतिपाद्यतत्त्व वही है जो सभी शास्त्रों का है। "तत्तु-समन्वयात्" वेदान्त सूत्र सर्वत्र ईश्वर का ही समन्वय बतलाता है। ईश्वर ही अपनी सृष्टि के संचालन के लिये प्रथम पुरुष हिरण्यगर्भ को अपौरुषेय वेद प्रदान करते हैं। वेद अनादि हैं और भारतीय मनीषियों ने वेदको स्वतः प्रमाण माना है। धर्म का परिज्ञान वेद निरपेक्ष किसी दूसरे प्रमाण से संभव नहीं है। "यन्मनुरब्रवीद् तद्भेषजम्" कह कर वेद जिस मनु की प्रशंसा करते हैं वे आदि विधान निर्माता मनु भी कहते हैं कि **धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः"**। धर्म वेदैकसमाधिगम्य है। केवल स्वकपोल कल्पित तर्क या युक्त्याभास से वर्णाश्रमविहित धर्मका निर्णय नहीं हो सकता है। राजसूय क्षत्रिय ही करें ब्राह्मण न करें, इसमें लौकिक युक्ति कैसे प्रमाण हो सकती है।

सनातन ईश्वर का अंश जीव सनातन वेदों में प्रतिपादित सनातन धर्म के अनुष्ठान से ही सनातन मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। धर्म का ज्ञान हुए बिना, उसका अनुष्ठान संभव नहीं है। धर्म का ज्ञान वेद के अध्ययन के अनंतर मीमांसा से ही हो सकता है। परन्तु वेद के अध्ययन में सभी का समान अधिकार नहीं है। फिर अनधिकारी स्त्री शूद्रादि को धर्म का ज्ञान तथा स्वाध्याय कैसे होगा ?

प्राणि मात्र की कल्याण कामना करने वाले महर्षि व्यास ने अष्टादश पुराणों की रचना की। अष्टादश पुराण भी वेदों के व्याख्यान ग्रंथ ही हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ-विधियों के अतिरिक्त जो कई उपदेशप्रद कथायें उपलब्ध होती हैं उन्हीं का विशद तथा सरस भाषा में पुराणों में हमें दर्शन होता है। वेदानुकूल स्मृति-ग्रन्थ ही धर्म में प्रमाण माने जाते हैं, वेद विरुद्ध नहीं। इसीलिये तो महाकवि कालिदास ने कहा है—"श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्" श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृति ही मान्य होती है—धार्मिकों को। भगवान् बुद्ध अवतार थे। तथापि वैदिक धर्मावलंबियों को बौद्ध-स्मृति वेदनिन्दक होने के कारण, मान्य नहीं हुई।

वेदों के विभाजक व्यास जी—जिनका अवतार ही वेदों के प्रचार केलिये हुआ था—वे अपने पुराणों को वेदविरुद्ध कैसे बना सकते? पुराण तो महर्षि ने समस्त मानवों के कल्याण के लिये बनाया। वेदों को पढ़ने में जैसा प्रतिबन्ध है वैसा पुराणों को पढ़ने में नहीं। यद्यपि पवित्रता, शुद्धभाव एवं नियमनिष्ठा सभी धार्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय में अपेक्षित है। पुराण के वक्ता को उत्तम वर्ण और सदाचारी होना जरूरी है। श्रोताओं में स्त्री-पुरुष एवं वर्ण का कोई भेद नहीं है।

यह शंका सहज भाव से उठ सकती है कि वेद में सबका अधिकार नहीं है परन्तु वेदों के व्याख्या ग्रन्थ पुराणों में सबका अधिकार कैसे? इन सभी प्रश्नों का समाधान हम अपने तर्कों से नहीं कर सकते। इसका उचित निर्णय तो ऋतंभरा प्रज्ञासंपन्न तत्त्वदर्शी ऋषि ही कर सकते हैं। तर्कों की तो कोई प्रतिष्ठा ही नहीं है "तर्काप्रतिष्ठनात्" तर्क से कोई तार्किक किसी वस्तु को सिद्ध करेगा तो दूसरा उसका खण्डन करके और ही बात सिद्ध करेगा यत्नेनानुमितोऽर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते।" किसी की बुद्धि

पर किसी का नियन्त्रण है नहीं। वेदानुकूल तर्क प्रमाण के अनुग्राहक माने गये हैं। वेदों का जो मूलरूप है, उस पर सभी का अधिकार होने से उसमें विकृति आ सकती है। मूलरूप को सुरक्षित रखने के लिये भी वैदिक जगत् में प्रवेशाप्रवेश का विशेष विचार है। अस्तु।

प्रकृत यह है कि वेद के स्वाध्याय से जो प्रयोजन निष्पन्न हो सकता है वही प्रयोजन पुराणों के अध्ययन तथा अनुशीलन से भी सम्भव है। बल्कि इतिहास-पुराणों के बिना वेदों का वास्तविक मर्म समझ में नहीं आ सकता है। "बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यतीति।" बहुश्रुत ही वेदतत्त्व को समझ सकता है।

पुराणों में भी जिस भक्ति की धारा बही उसका उज्ज्वल रूप श्रीमद्भागवत में उपलब्ध होता है। भागवत के प्रथम स्कन्ध में ही कथा आती है कि—वेदों का विभाजन और पुराणों की रचना करने पर भी व्यासदेव को शान्ति न मिली। वे खिन्न भाव से अपने आश्रम में बैठे थे। इतने में नारद जी आ गये और उन्होंने असन्तोष का कारण पूछा। व्यासजी का कथन सुनकर नारदजी ने कहा आप भगवान् के दिव्य मधुर अलौकिक गुणों का वर्णन करें" उससे आपके अंतःकरण में शान्ति आयेगी। इसके अनन्तर व्यासजी ने श्रीमद्भागवत की रचना की। "निगमकल्पतरोर्गलितंफलं" कहकर श्रीमद्भागवत को वेदमूलक बतलाया और साथ ही भागवत को रसमय फल की उपमा देकर कल्याणकारियों के लिये उसे सेवनीय कहा। कारण के गुण कार्य में आते हैं वृक्ष की शाखा, मूल, पत्र, पुष्प में रस तो रहता ही है परन्तु इसकी अनुभूति जिस रूप में फल में होती है वह वृक्ष के दूसरे अंगों में नहीं मिल सकती।

वेदों में जिस कर्म, भक्ति तथा ज्ञान का वर्णन है उस काण्डत्रय का प्रतिपादन भागवत में बड़ी महत्वपूर्ण शैली से हुआ है। उसमें काकोच्छिष्ट कुछ भी नहीं है। केवल हंसों के मोती हैं। जन्म लेते ही जंगल का

रास्ता पकड़नेवाले शुकदेव जी को भी भागवत के श्लोक ही आकर्षित कर सके। व्यासदेव के शिष्यों द्वारा भागवत गाने पर परमहंस शुकदेवजी पीछे-पीछे गये और वे अपने पिता के समीप पहुँच गये। फिर उनके पिता ने उनको श्रोत्रिय बनाया। व्यास महर्षि ने जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध में जो विचार अपने वेदान्त दर्शन में सूत्र रूप से कहे उसी का भाष्य भागवत के रूप में किया। दोनों के प्रारंभ में शब्द साम्य भी है।

भागवत पूर्णरूप से अद्वैततत्त्व का प्रतिपादन करता है। अद्वैत-तत्त्व के दृढ़ हो जाने पर भक्ति के लिये द्वैत की कल्पना अनर्थकारिणी नहीं है। जैसा कि कहा भी है—**"द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतं अद्वैतादपि सुन्दरम्।"** भगवान् में भक्ति के बिना जो कोई कर्म अथवा ज्ञान है उसमें अभि-मान का प्रवेश हो जाता है। अभिमान अधःपतन करनेवाले कारणों में प्रधान है। मोक्ष के प्रधान साधन योग में भी ईश्वर प्रणिधान आवश्यक है। आज से हजारों वर्ष पूर्व भागवत की रचना हो गई थी परन्तु क्रांतिदर्शी व्यासजी को भविष्य में होनेवाले राजाओं का तथा व्यवहारों का ज्ञान हो गया था। जिसका वर्णन उन्होंने द्वादश स्कन्ध में किया है। जिस प्रकार का अनाचार तथा असद्भावना का वर्णन उन्होंने किया है वह प्रत्यक्ष हमलोगों के समक्ष है। प्राचीनकाल में इसी प्रकार के विप्रकृष्ट भूत-भविष्य को देखनेवाले तत्त्वदर्शियों का इतिहास प्रमाणिक होता था। वाल्मीकि की रामायण रामचन्द्र को प्रामाणिक मालूम पड़ी, प्रत्यक्षदर्शी हनुमान की नहीं।

भागवत् के बारह स्कन्धों में दसवाँ स्कन्ध शुद्ध ब्रह्म की लीलाओं के वर्णन में पर्यवसित है। दसवें स्कन्ध पर कई आचार्यों ने अपना हृदय खोल-कर रख दिया है। भगवान् की जो नर लीलायें हैं वस्तुतः वे अप्राकृतिक तथा दिव्य हैं। मनुष्यों के मन से परे की वे बातें हैं। दसवें स्कन्ध में जिस भगवान् कृष्ण का वर्णन हैं वे वर्षा ऋतु में ही अवतरित हुए थे। अतः वर्षाकाल में भगवान् के गुणगणों का श्रवण करना विशेष लाभदायक है।

सन्मार्ग—कलकत्ता—१२ अगस्त १९६० ई०

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद

पवाहारी श्री स्वामी बालकृष्णयतिजी महाराज
वेदान्ताचार्य

विश्व में अनेक मत, वाद प्रचलित हैं। विचार करने पर ये सारे वाद दो भागों में विभक्त होते हैं, एक भौतिकवाद दूसरा अध्यात्मवाद। येही दो वाद नामान्तरसे भी विवेचकों द्वारा व्यवहृत होते हैं, जैसे—जड़वाद, चैतन्यवाद, भोगवाद, योगवाद एवं नैतिक जीवन तथा असंगत चेष्टायें आदि आदि। विभिन्न शब्दों का प्रयोग होने पर भी वस्तुतत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। अध्यात्मवाद शांति एवं सुख का स्रोत है और भौतिकवाद अशांति तथा दुःख का जनक है।

भौतिकवाद में कोई एकरस नित्य चैतन्य-तत्त्व स्वीकार नहीं किया जाता बल्कि पञ्चभूतों के विलक्षण रूप में परिणत होने से देह में चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है।

जैसे शराब के मूल साधन में रासायनिक परिवर्तन होने से शराब में 'मद-शक्ति' की अभिव्यक्ति हो जाती है। देह से अतिरिक्त लोक-लोकान्तर को गमन करनेवाली कोई आत्मा नाम की चीज भौतिक-वाद या जड़वाद में मान्य नहीं है। "चैतन्यविशिष्ट देह एवात्मा" सिद्धान्त को माननेवाले प्राचीन लोग जड़वादी कहे जाते थे। जड़-वादियों का कहना था कि "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?" ऋण करके भी घी खाना पड़े तब भी कोई बात नहीं, पर इस शरीर को पुष्ट रखना जरूरी है। ऋण न चुका सके तो ? कोई बात नहीं है। क्योंकि दुष्कर्मों

का फल भोगनेवाला कोई देह से अतिरिक्त है ही नहीं। स्वर्ग-नरक की चिंता करना तो मृगतृष्णा के जल में नौका चलाने के समान है। पर हाँ! प्राचीन भौतिकवादी जहाँ ऋण करके घी खाने को कहते थे, वहीं आज के जड़वादी "हत्वा हत्वा सुरां पिबेत्" वाली बात कहते हैं। स्वार्थ आजकल नग्नरूप में हमारे सामने खड़ा है। दूसरों के हितसाधन की बात कहकर स्वार्थपूर्ति के लिये "आत्म प्रशंसा" और "परनिन्दा" तथा पर वंचना करते हैं—"शिक्षका वंचका जाता रक्षकाश्चापि भक्षकाः। पोषकाः शोषका नूनं सेवकाः खलु धर्षकाः॥" "अयं लोको नास्ति परः" माननेवालों का जितना बाहुल्य संसार में आज है उतनी ही अशांति तथा वैमनस्य व्याप्त है।

संसार में यदि पूर्ण सुख शान्ति को स्थापित करना हो तो पहले हमें अध्यात्म की शरण में जाना चाहिये। दुनिया में जो वैज्ञानिक उन्नति हो गई और आगे हो रही है, उससे चिर लाभ उठाना हो तो विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय आवश्यक है। विज्ञान को अध्यात्म से अनुप्राणित होना चाहिये। आध्यात्म के बिना वैज्ञानिक उन्नति कितनी भी हो जाय, उसका परिणाम अशान्ति और विनाश को छोड़कर और क्या हो सकता है? जब तक "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति" की वास्तविक भावना मनुष्य के हृदय में नहीं आवेगी, तब तक अपार सम्पत्ति होने पर भी मनुष्य के अन्दर से शोषण की वृत्ति समाप्त नहीं हो सकती। अरबों सम्पत्ति होने पर भी एक व्यक्ति दूसरों को सताता रहता है। एक-एक से घृणा करते ही रहते हैं। वेद ने तो घृणा के समूल विनाश के लिये अचूक औषधि 'सर्वभूतों में आत्मदर्शन तथा आत्मा में सर्व भूतदर्शन' को बतलाया है।

अध्यात्म का अर्थ है कि इस संसार का अधिष्ठान सच्चिदानन्द एकरस अपरिच्छिन्न आत्मा है। शास्त्र एवं ऋषि-महर्षियों के कथन से सारा जगत् प्रभु का ही स्वरूप है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति"

"वासुदेवः सर्वमिति" आदि-आदि श्रुति-स्मृतियाँ इसमें प्रमाण हैं। जो अध्यात्मवादी सर्वत्र ही अपने प्रभु का साक्षात्कार करता है, वह किस प्रकार किसी से घृणा तथा द्वेष कर सकता है? भय ही सब अनर्थों की जड़ है। आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से डरकर ही अस्त्र-शस्त्रों की होड़ में पड़कर विनाशकारी अस्त्रों का निर्माण कर रहे हैं। भय की निवृत्ति अध्यात्मवाद का सर्वत्र आत्मदर्शन का सर्वतोभावेन स्वीकार करने से ही हो सकती है।

अब यह विचार करना है कि जो दुष्ट प्रकृति के लोग हैं, क्या उनकी दुष्टता बिना उनके उत्पीड़न के हट सकती है? हाँ! वस्तुतः शास्त्रों में जो दण्डविधान बताया गया है वह भी उनके उत्पीड़न के उद्देश्य से नहीं है बल्कि उनके हित से प्रेरित हो करके विहित है। कोई भी प्राणी स्वभाव से दुष्ट नहीं है। सभी **"अमृतस्य पुत्राः"** के अनुसार परमात्मा की ही संतति है। सभी सहज चेतन निर्मल सुखराशि हैं। दुष्टता तो अविद्या, काम, कर्म के सम्पर्क से आती है। वह कोयले की कालिमा के समान जीवों का स्वाभाविक धर्म नहीं है। जैसे स्वच्छ जल भूमि में पड़ने से मलिन हो जाता है, परन्तु निर्मली या फिटकरी डालने से निर्मल हो जाता है। वैसे ही प्रत्येक जीव सत्संग, सत्कर्म तथा सच्छास्त्रों के अनुशीलन से भगवत्कृपा प्राप्त करके साधु, भागवत और महापुरुष बन सकता है। मार्ग में चलनेवाले पथिकों का धन लेकर उनको मार डालनेवाले रत्नाकर, नारद के संसर्ग से एक महान् पुरुष एवं कवि हो गये। उनके हृदय में पीछे इतनी करुणा प्रकट हो गई कि एक निषाद के द्वारा पक्षियों के जोड़े में से एक के मारे जाने पर उनके मुँह से निकल पड़ा—**"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।"** अपने वास्तविक स्वरूप को जीव प्राप्त कर सकता है।

रावण, कंस, हिरण्यकश्यपु आदि भौतिकवादियों ने अपने ऐहिक जीवन को ही सर्वस्व एवं महत्त्वपूर्ण समझा और इसको सुखमय बनाने

के लिये बड़े-बड़े अन्याय किये। उनके वे शरीर इतने मलिन हो गये थे कि उनसे परमात्मा का साक्षात्कार हो ही नहीं सकता था। परमात्मा ने उनपर करुणा करके उन शरीरों को ले लिया। जबतक कोई अंग सर्वथा विकृत नहीं हो जाता है तबतक डॉक्टर उसको सर्वथा काटकर नहीं फेंकता है। परन्तु जब कोई अंग अत्यन्त विकृत हो जाता है तभी डॉक्टर उस विकृत अंग को काटकर फेंक देता है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने को सुधारने का प्रयत्न करेगा तो सारा समाज सुधर सकता है। व्यक्तियों का समूह ही तो समाज है। एकत्व की भावना बढ़ने से राष्ट्र में एवं विश्व में शांति स्थापित हो सकती है। जिस कार्य में एक व्यक्ति का वास्तविक हित है उसी में दूसरे का हित भी निश्चित है। एक के अहित में दूसरे का हित नहीं है।

भौतिक वस्तुओं की अभिवृद्धि अध्यात्मवाद में खूब होती है। कणाद महर्षि ने तो धर्म या अध्यात्म को जैसे निःश्रेयस का जनक बतलाया है वैसे ही अभ्युदय का कारण कहा। धर्मात्मा युधिष्ठिर, रघु आदि राजाओं की सम्पत्ति अपार थी। परन्तु वह दूसरों की या प्रभु की सेवा के लिये थी। भोग विलास के लिये नहीं। उनकी तो घोषणा थी कि **"पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु"**।

अध्यात्मवादी, धर्म अविरोधी अर्थ काम को सेवनीय मानता है। परन्तु अर्थ-काम को जीवन का सार सर्वस्व स्वीकार नहीं करता है। उसका तो लक्ष्य वही मोक्ष होता है। उपनिषद् कालीन एक राजा अपने राज्य की व्यवस्था का वर्णन करता है—**"न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो, न मद्यपः, नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, न स्वैरी स्वैरिणी कुतः?** कैसी सुन्दर व्यवस्था हैं! अध्यात्म दृष्टि का वह फल है। वही दशा आज भी हो सकती है परन्तु सच्ची आध्यात्म-दृष्टि चाहिये। **"मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्"** नहीं होना चाहिये। **"स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां"** की पुकार करने वाले प्रह्लाद का हृदय सबको मिले तो

आनन्द की वर्षा ही वर्षा हो जायगी। नहीं तो "दुःखालयमशाश्वतम्" ही हाथ लगेगा। जब तक हम लोग अपने मन को स्वच्छ नहीं बनायेंगे तब तक हमें ब्रह्मलोक भी मिल जाय तो भी शांति नहीं मिलेगी। वहाँ भी हम गंदगी फैला देंगे।

अध्यात्म बतलाता है सबमें आत्मा है। सबसे प्रेम करो। अर्थात् अपने से प्रेम करो। आत्मा ही परम प्रिय है। आज का युग वैज्ञानिक युग कहा जाता है। यान्त्रिक आविष्कार अच्छे रूप में हो रहे हैं। विश्व बहुत कुछ संकुचित हो गया है। दूरी मिट गई है। हम व्यापक रूप में सेवा कर सकते हैं। हमारे पास वैज्ञानिक साधन हैं। किसी रोगी की पीड़ा को हम अच्छी औषधि देकर दूर कर सकते हैं। किसी कोने में पड़े हुए दुखियों के आँसू पोंछने के लिये हम शीघ्र जा सकते हैं। भूखों के लिये अन्न जल्दी वायुयान से पहुँचाया जा सकता है। आज जिस युग को मानवता का संहारक बतलाया जाता है, उसी युग को अध्यात्मवादी मानवता की या सभी प्राणियों की सेवा के लिये किस प्रकार उपयोग कर सकता है, यह विचारणीय है। प्रत्येक पदार्थ में संहारक और सर्जन शक्ति होती है। उपभोक्ता अपने उपयोग के अनुसार फल प्राप्त करता है।





प्राप्ति-स्थान—

[illegible] श्री सिद्धपीठ हथियाराम मठ
सी० के० ६०/३५, कर्णघण्टा, वाराणसी

२. श्री सिद्धपीठ हथियाराम मठ
पो० बुढानपुर,
जि० गाजीपुर (उ० प्र०)